

\* जगद्गुरुं वन्दे विष्णु श्री कृष्णं वन्दे जगद्गुरु \*

# श्रीमद्भगवद्गीता

भाव प्रबोधिनि भाषा टीका सहित

अनुवादक

ब्रह्मलीन महात्मा सत्यानन्द (म० सर्वाज्ञानंद)

आदि सम्पादक—हंसादेश



यं ब्रह्मा वरुणेन्द्रसूदरमरुतःस्तुन्वन्ति  
दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै  
गायन्ति यं सामगाः ।

ध्यानावस्थिततदगतेन मनसा पश्यन्ति  
यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुर  
गण देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्रादि देवगण दिव्यस्तोत्रों  
द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं। वेद, उपनिषद, अंग,  
पद, क्रम और छन्द सहित जिसका ध्यान करते  
हैं। योगीजन जिस प्रभु को ध्यान अवस्था में  
गतचित् मन से हृदय में देखते हैं। जिसके अन्त  
को देव और दैत्य कोई भी नहीं जानते, उस परम  
प्रभु को मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये  
 स एवाग्नि सलीले सन्ति विष्ठ ।  
 तमेव विदित्वा Sति मृत्यु मेति  
 नान्य पन्था विद्यते Sयनाय ॥



\* परमसंत सदगुरुदेव श्री हंस जी महाराज \*

## प्रिय पाठक वृन्द !

वेदों को दुहकर जिस अध्यात्म ज्ञान का वर्णन महर्षियों ने अपने शिष्यों के प्रति विस्तार सहित अनेकों उदाहरण देकर किया था, उन सर्व उपनिषदों का सार भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को सुनाया। श्री कृष्ण द्वारा गाई गई गीता को व्यास की कृपा से संजय ने कवित की, जिसकी टीका बहुत से विद्वानों ने अनेक भाषाओं में कीं परन्तु सबने गीता के गाने की महिमा पर ही बल दिया है, गीता के भाव को समझने का प्रयत्न नहीं किया।

करते भी कैसे ? गीता का विषय मन, बुद्धि, वाणी का है ही नहीं। जो विद्वान् गीता के रहस्य को स्वयं ही नहीं समझा हो वह अपनी लेखनी की व्याख्या द्वारा दूसरों को कैसे समझा सकता है ? "यद्यपि श्रुति बहु कह्यो बुझाई। छूटै न ग्रन्थि रहै उरझाई ॥"

वास्तव में वेद-भाष्य तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थ ज्ञानी पुरुषों द्वारा लिखे गये हैं; जिन्हें कोई सद्गुरु का शिष्य जिसे आत्मा का पूरी तरह ज्ञान हो और जिसने श्री सद्गुरुदेव के दिव्य-दर्शन अपने अन्दर किये हों, ऐसा महान् आत्मा ही सद्गुरुदेव की महान् कृपा से समझ सकता है और समझा भी सकता है।

समयानुसार गीता के परम रहस्यों को भाव सहित कहीं-कहीं पर दर्शाया गया है, जिन्हें पढ़कर पाठकगण विद्वानों की बुद्धि से न तोलकर स्वयं अपनी बुद्धि से तोलें अर्थात्—बुद्धि द्वारा समझने की कृपा करें। आशा है यह भाव प्रबोधिनि भाषा टीका आपको प्रिय लगेगी।

कोई भी कार्य देशकाल स्थिति को देखकर ही किया जाता है। अतः यह भाव प्रबोधिनि टीका पाठकगणों की बुद्धि को बल दे, जिससे वे मन पर विजय प्राप्त कर सकें।

आपका शुभचिन्तक  
सत्यानन्द

## \* समर्पणम् \*

आपके ही श्रीमुख कमल से  
उत्पन्न हुई गीतामृत  
आपके कर कमलों में  
अर्पण करते हुए  
परम आनन्द को  
प्राप्त हो कर  
हर्षित होता  
जा रहा हूँ  
आप के श्री  
चरणों  
में

## \* वन्दना \*

देवादिदेव—गुरुदेव ! मैं आपकी लीलाओं का वर्णन कैसे करूँ ! आपकी लीलाओं का पार आज तक किसी ने भी नहीं पाया । कोई भी जो कुछ भी समझता है, केवल आपकी प्रकृति के ही सहारे । यह आत्मा वास्तव में निर्गुण है—आप जब इसमें प्राण भर देते हो तब ही यह बोलता है, चलता है, उठता है, बैठता है, देखता है, सुनता है, सोचता है, निर्णय देता है, ग्रहण करता है और आपके गुणों को पाकर ही तो यह अहंकार भी करता है । क्योंकि जब इसके पास प्राण भी नहीं हों तो अहंकार भी किसको लेकर करे । हे प्राणपति, हे प्राणेश्वर—हे जगदाधार, आप ही इस शरीर में रहकर अपनी शक्ति के द्वारा—पाँच प्राणों को तथा इनके परमदेव—विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा आदिशक्ति और स्वयं अपने को भी प्रगट करते हो । इन पाँच प्राणों द्वारा ही तो अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ रखते हो । आपकी त्रिगुणमयी माया ही से तो देव, भूतादि सारा विश्व चराचर उत्पन्न हुआ है ।

इतना बड़ा सृष्टिजाल—जिसका वर्णन होना भी कठिन है; इसे पाकर जीव आप सृष्टिकर्ता को ही भूल गया... आपकी माया को देखकर तो इसे भूलना नहीं चाहिये था, परन्तु हो सकता है कि यह जीव आप की रचना को अपनी रचना समझकर भूल बैठा हो और इसी कारण इसे अपने किये कर्मों के फल को भोगने के लिये बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में रहकर दुःख भोगना पड़ता हो । हो सकता है इसीलिये आप भी बार-बार आकर चेतावनी देते हो कि सब कुछ मेरे अर्पण कर, तब सब बन्धनों से छूट जायेगा ।

परन्तु यह अज्ञानी अर्पण करे तो कैसे करे—यह तो सब कुछ अपना ही समझ बैठा है।

बड़े-बड़े विद्वान भी तो आप सगुण को निर्गुण और अपने को सगुण कहते हैं... यह जीव की अज्ञानता है या आप श्री की ही यह माया है? क्या आप ही जीव को भूला-भूला कर खोजते हो या यह जीव स्वयं ही भूल जाता है? परन्तु भूलने की शक्ति भी तो इसमें नहीं है—यह भी तो आप की ही कृपा है। भूल न हो तो यह जीव दुःखों को याद करके ही दुःखी हो जाय। आप की रचना कल्याणकारी है किन्तु जीव अज्ञानता वश बुराई की ओर लगता है। आप ही इस जीव का कल्याण करने में समर्थ हैं। हे कल्याण करने वाले परमदेव दया करें।

कल्याणकारी प्रभ! घट-घट वासी, सब गुण-रासी, श्री-पति, अविनाशी, दिव्य ज्ञान प्रकाशी, अशरन शरण, दीनबन्धु, अनाथों के नाथ, कृपा सिन्धु कृपानिधान भक्त वत्सल आनन्दकन्द सच्चिदानन्द भगवान्! आपकी अद्भुत लीला को देखकर कौन मोहित नहीं होता। आपकी महिमा गाने में किसके कंठ नहीं रुके, किसकी कलम नहीं थकी, कौन है ऐसा जो आपकी महिमा गाने में सभी कुछ भूल न गया हो।

आपकी माया का यह ब्रह्मजाल या भ्रमजाल बड़ा ही विचित्र है, आप जो खेल खेलते हो, वे भी बड़े विचित्र हैं। यह विश्व ही आपके खेल का मैदान है। इसमें असंख्यों उच्चकोटि के खिलाड़ी आपसे हार जाते हैं, इसलिये खेलना भी नहीं चाहते, परन्तु करें भी क्या? इस मैदान में आकर तो खेलना ही पड़ता है। किसी का हाथ टूटे या पाँव, आपको तो खेलने से ही मतलब है—फिर भी आपको सब दयालु-कृपालु कहते हैं। आपका आँख

मिचौनी वाला खेल भी तो अद्भुत है—सबकी आँख पर पट्टी बाँधकर आप घर में ही छिप जाते हो और दरवाजे की ओट में सबको देखकर हँसते रहते हो । ठोकरें खा-खाकर सब आपको ढूँढते हैं, जिनमें कोई आपका प्यारा ही आपका इशारा पाकर खोज पाता है ।

आप का जादू भी तो निराला ही है—जादूगर तो आपकी बनाई हुई वस्तुओं को दृष्टि के हेर फेर से कुछ की कुछ दिखाता है परन्तु आप को तो इस महान् जादू के लिये कुछ भी नहीं करना पड़ता । आपके स्वांस से वायु विश्व में चक्र लगाती है ।

आप वायु से भी सूक्ष्म-आकाश का भी धेरा डालने वाले और अति सूक्ष्म तथा महान् हो । आपके तेज से ही सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा तथा बिजली आदि चमकते पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इस वायु से आप अग्नि ही नहीं सारे विश्व को उत्पन्न कर देते हो । परन्तु फिर भी आप अकर्ता हो क्योंकि यह अनादि शक्ति ही विश्व की माता, विधाता, प्राणदाता है । हे सर्व शक्तिवान् परमेश्वर ! आप को सभी ओर से कोटि-कोटि प्रणाम ।

आदि शक्ति माँ ! आपके चरण कमलों की रज से ही सारा विश्व चमक रहा है । देव, दनुज, क्रष्ण-मुनि और सारे विश्व के ईश्वर महेश्वर भी आपकी वन्दना करते हैं ।

**"जासु अंस प्रगटहि गुण खानी अगनित उमा लक्ष्मी ब्रह्मानी"**

आपके ही अंश से असंख्यों उमा-पार्वती-दुर्गा, लक्ष्मी तथा ब्रह्म को भी जन्म देने वाली असंख्यों जगदम्बा उत्पन्न होती हैं । आपके ही श्री चरण कमलों में कोटि-कोटि प्रणाम । भगवान की उपासना जानी भक्तजन करते हैं, परन्तु आपकी उपासना सारा विश्व तथा विश्वपति परमात्मा भी करता है । जो ब्रह्मज्ञानी हैं

सभी ने आप की महिमा को छोड़कर अपरम्पार बताया है । हे माँ !

आपकी ही महान् दया से विश्वपति परमेश्वर आनन्दकन्द भगवान सारे विश्व का कल्याण करते हैं, आपके ही कृपा प्रसाद से भगवान शंकर ने जीवों का कल्याण किया तथा आपके ही धारण किये त्रिशूल और डमरु से समय-समय पर सोते जीवों को तथा राक्षसों को, देव-गंधर्वों को जगाया तथा भाँति-भाँति से नाच नचाया ।

हे जगदम्बे ! यह विश्व आपकी दया का ही फल है, जिस फल का बीज परमेश्वर है और प्रेमरूपी रस भरा है। इस संसार रूपी वृक्ष में अनेकों फल और फूल लगे हैं। चन्द्र, तारे, बिजली, अग्नि, सूर्य आदि फूल तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देव रूपी फल इस वृक्ष में लगते रहते हैं।

माँ ! आपने ही समय-समय पर सतयुग में विष्णु की, त्रेता में राम की और द्वापर युग में श्री कृष्ण की सहायता की, उन सबको वरदान दिया और ज्ञान खड़ग से दैत्यों का वध किया। आप अपने तेज से असंख्यों देवी और देव उत्पन्न करती हो और अंधकार से नष्ट होते हुये इस संसार को बचाती हो ।

माँ ! आपके श्री चरण कमलों में कोटि-कोटि प्रणाम ! आप दया की सागर हो। हमेशा बच्चों पर दया करती हो ।

दया करो ! दया करो ! दया करो !

दयासागर ! सारे विश्व को नाच नचाने वाला डमरु आपकी त्रिशूल में बंधा देखकर भयंकर दाढ़ों वाले दैत्य भी काँप कर नाच उठते हैं। देव-भक्त तेरे डमरु की ध्वनि को ही सुनकर मस्त हो नाचने लगते हैं ।

पता नहीं, तू कैसे-कैसे नाच नचाता है, अन्दर बाहर जहाँ

भी देखो तू नाचता ही दिखाई देता है। तेरा नृत्य भी अद्भुत और निराला है। तुझे नाचता देख सूर्य भी नाचता हुआ सारी पृथ्वी की परिक्रमा देता है। चन्द्रमा भी जोकर बनकर तेरी खुशी के लिये रूप बदलता रहता है। तारे भी आकाश में नाचते दिखाई पड़ते हैं। ग्रह नक्षत्र भी तेरे चारों ओर नाच रहे हैं।

हे विश्व के रचाने वाले ! कोई तो दुःखी होकर कोई सुखी होकर और कोई तेरे प्रेम में मस्त होकर नाच रहे हैं। तू ही त्रिकुटी महल में बैठकर सबकी पुतलियों को नचाता है। प्राणों में बैठकर सबके शरीरों को नचाता है। वास्तव में तेरे नृत्य से ही सारा विश्व जीवित है, तेरी उँगलियों के इशारे से संसार नाचता है, सोता और जागता है, जीता और मरता है। तेरी पुतलियों का नाच तो कामदेव के दिल को भी नचा देता है।

दयालुता के कारण तू जीवों पर इतनी दया करता है कि विष्णु ने भी तेरा नाम भोला रखा है। सबसे पहले तुझे—श्री आनन्दकन्द भगवान ने ही भोला कहा, अनेकों बार अनेक दया के ही कारण। भस्मासुर पर दया करना भोलापन ही तो था। यह सारा विश्व तेरे भोलेपन से ही जीवित है।

कितने ही महान् दुःखी तेरी भोली मूर्ति को देखकर महान् सुखी हो जाते हैं। तेरी याद से हृदय कमल खिल उठता है, चेहरा दमक उठता है, तेरे नाम और गुण का तो प्रभाव ही निराला है। ब्रह्मा की रची इस सृष्टि के तुम ही प्राणाधार हो।

हे प्राणाधार ! आप प्राणेश्वर, प्राणदाता, प्राण रक्षक आदि शक्ति के भी प्राणाधार हो।

आपकी सुन्दर अद्भुत सजीली सृष्टि रूपी बगीचे के फूलों

की फलों की तथा वृक्षों की देखभाल—दिव्य विभूतियों सहित श्री आनन्दकन्द सच्चिदानन्द भगवान् स्वयं कर रहे हैं ।

इस सृष्टि की रक्षा के लिये ही तो स्वयंभू ब्रह्मा ने हजारों वर्ष आपकी तपस्या (सेवा) की थी । बहुत कठिन तपस्या को देखकर ही तो आपने यह वरदान दिया था ।

अंशन सहित देह धरि ताता । करिहऊँ चरित भक्त सुख दाता ॥  
आदि शक्ति जेहि जग उपजाया । सोऊ अवतरिहि मोरि यह माया ।

(गमचरित मानस बालकाण्ड)

स्वयंभू मनु को दिये गये वरदान के अनुसार ही आपने विष्णु, शिव, ब्रह्मा इन तीनों अंशों सहित शरीर धारण किया और आपकी दया से ही आदि शक्ति जगद्माता का अवतार हुआ । इस घोर कलियुग का अन्त करने के लिये आपने अनेकों रूप धारण किये हैं ।

आप सर्वगुण सम्पन्न—दुर्गुणों का सत्कार और सद्गुणों का प्यार करते हो, देव, दनुज सब आपकी सेवा में रहते हैं । आप इस संसार रूपी बगीचे में सबसे काम लेते हों ।

महान् दुःखों से जीव जब बेचैन हो उठता है चाहे वह देव हो या दनुज, तेरी ही गोद में सोकर दुःखों से छूटता है । संयोग, वियोग, भोग, कुयोग तथा हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश यह सब आप ही के हाथ में हैं । हे प्राणाधार ! आप ही विश्व के रक्षक, विश्व पति, परम-ईश्वर परमधाम परम ब्रह्मा, परमपुरुष-पुरुषोत्तम जो भी हो आप ही हो ।

सदा भवानी दाहिने, सन्मुख रहे गणेश ।

पाँच देव रक्षा करें, ब्रह्मा विष्णु महेश ॥

\*\*\*\*\*

## \* विषय-सूची \*

### ।। पहला—अध्याय ।।

धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय द्वारा युद्ध भूमि का वर्णन।  
 दुर्योधन का द्रोणाचार्य को सेना दिखाकर प्रोत्साहन देना।  
 दोनों सेनाओं के बीच रथ ले चलने की प्रार्थना।  
 अर्जुन का गुरुजनों को देखकर भ्रमित होना।  
 कुल नष्ट होने पर धर्म भ्रष्ट हो जाने का भय।

श्लोक  
१-२  
३-१९  
२०-२३  
२४-३७  
३८-४७

### ।। दूसरा—अध्याय ।।

श्रीकृष्ण के समझाने पर भी युद्ध करने से इंकार।  
 आत्मा की अमरता और क्षत्रि धर्म।  
 विद्वानों की निन्दा, निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा,  
 बुद्धि भरमाने वाले विद्वानों के सिद्धान्तों का त्याग।  
 अर्जुन द्वारा स्थिर बुद्धि के लक्षण पूछना।  
 संसार रूपी रात्रि में योगियों का जागना।  
 भोगों में भी योगी के ध्यान की स्थिरता।

१-९  
१०-३८  
३९-५१  
५२-५३  
५४-६८  
-६९  
७०-७२

### ।। तीसरा—अध्याय ।।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों में कर्म की आवश्यकता।  
 विश्व रचना हेतु किये गये यज्ञकर्म का वर्णन।  
 आत्मज्ञान में संतुष्ट ज्ञानी को कर्म की आवश्यकता।  
 निजधर्म में मरना श्रेष्ठ और परधर्म में दोषों का भय।  
 अर्जुन द्वारा—पाप कर्म का कारण पूछना।  
 काम और क्रोध ही पाप का कारण।

१-८  
९-१६  
१७-३३  
३४-३५  
-३६  
३७-४३

### ।। चौथा—अध्याय ।।

सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को योग का ज्ञान देना।  
 वर्ण व्यवस्था की नियुक्ति।  
 कर्म-अकर्म तथा विकर्म का वर्णन।

१-१२  
१३-१५  
१६-२३

श्लोक

ब्रह्म यज्ञ द्वारा योग के चार अंगों का वर्णन।	२४-२७
ब्रह्म यज्ञ हेतु योग आदि कर्म तथा ज्ञान।	२८-४२
॥ पाँचवाँ—अध्याय ॥	
कर्म के संन्यास से निष्काम कर्मयोग की विशेषता	१-१६
ब्रह्म ज्ञानी की समान दृष्टि।	१७-२६
निष्काम-कर्म ही संन्यास और योग है।	२७-२९
॥ छठा—अध्याय ॥	
कामनाओं को जीतने वाला आत्मा ही मित्र है।	१-१२
ध्यान करने की विधि।	१३-३२
अभ्यास और वैराग्य से मन का ध्यान में स्थिर होना।	३३-३६
श्रद्धावान योगी के मन की चंचलता पर भी सद्गति।	३७-४७
॥ सातवाँ—अध्याय ॥	
ज्ञान का विज्ञान सहित वर्णन।	१-३
परा और अपरा प्रकृति का वर्णन।	४-१५
करने के चार कारण	१६-२३
मृढ़-बुद्धिमानों द्वारा अविनाशी स्वरूप का न जानना।	२४-३०
॥ आठवाँ—अध्याय ॥	
अर्जुन के सात प्रश्नों का उत्तर।	१-११
शब्द ब्रह्म का संक्षेप से वर्णन।	१२-२२
योगियों की उत्तरायण और दक्षिणायन गति।	२३-२८
॥ नवाँ—अध्याय ॥	
गोपनीय ज्ञान का विज्ञान सहित वर्णन।	१-३
भगवान का सर्वव्यापक होना और न होना।	४-६
सृष्टि के आदि-अंत में जीवात्मा का प्रकृति में लीन होना।	७-१५
शब्द ब्रह्म की यज्ञ में स्थिति और सृष्टि रचना।	१६-१९
पुण्य क्षीण होने पर देवताओं का नरक में जाना।	२०-२४
देवताओं के पृजने वाला जन्म-मरण के चक्र में रहता है।	२५-२७
अनन्य भाव से भैजने वालों द्वारा भगवत प्राप्ति।	२८-३१

प्रभू की शरणागति में नीच भी तर जाते हैं।

३२-३४

### ॥ दशवाँ—अध्याय ॥

विभूति योग का प्रभाव सहित वर्णन।

१-४२

### ॥ चारहवाँ—अध्याय ॥

अर्जुन द्वारा अविनाशी स्वरूप के दर्शन की प्रार्थना।

१-४

दिव्य नेत्र देकर विश्व रूप दिखाना।

५-१४

नाम, गुण, प्रभाव सहित अविनाशी रूप का वर्णन।

१५-३१

भगवान का अर्जुन को अभय दान देना।

३२-३५

नाम के गुण प्रभावों का अर्जुन द्वारा वर्णन।

३६-४६

वेद, यज्ञ, दान, तप आदि से ज्ञान असंभव।

४७-५१

अनन्य भक्ति के बिना चतुर्भुज रूप के दर्शन असंभव।

५२-५५

### ॥ बारहवाँ—अध्याय ॥

शब्द ब्रह्म (नाम) और नामी की उपासना।

१-४

भक्ति के बिना अव्यक्त गति पाना दुर्लभ है।

५-११

भगवतार्पण कर्म, त्याग की श्रेष्ठता और सन्यास।

१२-२०

### तेरहवाँ—अध्याय ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन।

१-६

ज्ञान के लक्षण और सत्-असत् का वर्णन।

७-२१

ज्ञान-ध्यान और भक्ति योग में भगवत् दर्शन।

२२-३४

### ॥ चौदहवाँ—अध्याय ॥

ज्ञानों में उत्तम ज्ञान की विशेषता।

१-२

प्रकृति और प्रकृति के गुणों का वर्णन।

३-१३

त्रिगुणानुसार मृत्यु का वर्णन।

१४-२०

त्रिगुणातीत के लक्षण तथा तीनों गुणों में समदृष्टि।

२१-२७

### ॥ पंद्रहवाँ—अध्याय ॥

अविनाशी वृक्ष का वर्णन।

१-१४

पुरुष और पुरुषोत्तम का वर्णन।

१५-२०

## ॥ सोलहवाँ—अध्याय ॥

दैवी प्रवृत्ति के सुलक्षण तथा आसुरी प्रवृत्ति।

१-१८

नरक के तीन द्वारों का वर्णन।

१९-२४

## ॥ सत्रहवाँ—अध्याय ॥

देवताओं की उपासना में श्रद्धा का वर्णन।

१-६

भोजन, यज्ञ, तप्, दान आदि के कर्म तीन प्रकार।

७-२२

अउम तत् सत्—सत् शब्द की व्याख्या।

२३-२७

## ॥ अष्टरहवाँ—अध्याय ॥

त्याग और संन्यास।

१-१२

अधार, कर्ता, करण, चेष्टा, ईश्वर ये पाँच कारण।

१३-१६

ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान।

१७-३९

चारों वर्णों की स्थापना।

४०-४८

संन्यासी के ज्ञान और निष्ठा का वर्णन।

४९-५७

भगवान् की आज्ञा से व्यापक ज्ञान कर्म करना।

५८-६३

सर्व धर्मों को त्यागकर भगवान् की शरण लेना।

६४-७३

व्यास की कृपा से संजय द्वारा गीता की रचना।

७४-७८

## ॥ प्रधान विषय ॥

गीता का प्रधान विषय आत्मा और परमात्मा है। आत्मा निर्गुण अर्थात्—गुण रहित है और परमात्मा सगुण अर्थात्—गुण सहित है।

परमपुरुष—परमेश्वर—परमअक्षर रूप से सर्व व्यापक, सर्व गुणों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा, गुणों के आधीन नहीं है बल्कि ब्रह्ममा; विष्णु और शिव की आत्मा भी गुणों में ही वर्तती है। अतः सगुण ब्रह्म जो आदि-ब्रह्म स्वयंभुमनु को भी ज्ञान देने वाला और पिता है वह “हंस” ही सद्गुरु रूप से तथा सगुण रूप से सबके हृदय में व्यापक है। सद्गुरु केवल परण ब्रह्म विष्णु रूप में एक ही है, दूसरा नहीं। गीता में भगवान के दो रूप बताये हैं एक अविनाशी सर्व व्यापक और दूसरा—नाशवान, अवतार धारण किया हुआ शरीर है। जो अविनाशी को छोड़ केवल नाशवान शरीर की ही उपासना करते हैं वह भक्त और भगवान लीलाओं के चक्र में महान दुःखी होते हैं। सतस्वरूप परमात्मा के सत्य गुण होने के कारण ही विष्णु को सतोगुणी और सगुण ब्रह्म माना जाता है।



\* श्री सद्गुरुचरणकपलेभ्यो नमः \*

## \* अथ श्रीमद्भगवद्गीता \*

(भाव प्रबोधिनि भाषा टीका सहित)

### अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच  
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।  
मायकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

धृतराष्ट्र ने पूछा

हे संजय ! धर्म भूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुये  
मेरे और पाण्डव पुत्रों ने क्या किया ?

॥ अ० १ श्लो० १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।  
आचार्यमुपसङ्ग्य राजा वचनमब्रवीत् ॥  
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।  
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

संजय ने कहा

हे धृतराष्ट्र ! व्यूह रचना युक्त पाण्डवों की सेना को देख कर  
दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा—हे आचार्य ! आप के  
बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र धृष्टद्युमन द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गई  
पाण्डव पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये ।

॥ अ० १ श्लो० २-३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।  
 युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥  
 धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।  
 पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥  
 युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।  
 सौभद्रो द्रोपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं, जैसे—सात्यकि, विराट और महारथी राजा द्रुपद तथा धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज पुरुजित् कुन्तिभोज, नर श्रेष्ठ शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र—अभिमन्यु और द्रोपदी के पाँचों पुत्र ये सभी महारथी हैं ।

॥ अ० १ श्लो० ४-५-६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तात्रिबोध द्विजोत्तम ।  
 नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥  
 भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।  
 अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥  
 अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।  
 नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! आपकी जानकारी के लिये मेरी सेना के जो-जो सेनापति हमारे पक्ष में हैं, कहता हूँ समझ लीजिये । एक तो स्वयं आप, पितामह भीष्म, कर्ण और संग्राम विजयी—कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा और भी अनेक प्रकार के शस्त्र अस्त्र से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागने वाले सबके सब युद्ध में चतुर हैं ।

॥ अ० १ श्लो० ७-८-९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।  
 पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥  
 अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।  
 भीष्ममेवाभिरक्षित्वा भवन्तः सर्वं एव हि ॥  
 तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।  
 सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥  
 ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।  
 सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥

भीष्म पितामह रक्षित हमारी सेना सब प्रकार अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इनकी सेना जीतने में सुगम है । इसलिये सब मोर्चों पर स्थित रहते हुये आप लोग भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें । इतना सुनकर प्रतापी पितामह भीष्म ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुये सिंह की गर्जना के समान शंख बजाया । तत्पश्चात् शंख नगाड़े, ढोल-मृदंग और नृसिंहादि बाजे एक साथ बजे । उनका भयंकर शब्द हुआ ।

॥ अ० श्लो० १०-११-१२-१३ ॥

ततः श्वेतर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।  
 माधवः पाण्डवश्वेव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥  
 पाञ्चजन्यं हर्षीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।  
 पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥  
 अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।  
 नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

उसी समय सफेद घोड़ों से सुसज्जित रथ में बैठे हुये श्री कृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये । श्री कृष्ण महाराज ने पाँचजन्य और अर्जुन ने देवदत्त तथा भयानक कर्म करने वाले

भीमसेन ने पौण्ड्र नाम के शंख बजाये । कुन्ति पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, नकुल और सहदेव ने सुधोष, मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाये । ॥३० १ श्लो० १४-१५-१६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।  
 धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥  
 द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।  
 सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥  
 स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।  
 नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

श्रेष्ठ धनुष धारण किये काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, द्रुपद, अजेय-सात्यकि और द्रोपदी के पाँचों पुत्र, बड़ी भुजावाला सुभद्रा पुत्र-अभिमन्यु, इन सबने अलग-अलग शंख बजाये । उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को गुँजायमान करते हुये धृतराष्ट्रों के अर्थात् आप के पुत्रों के दिल धड़का दिये ।

॥ ३० १ श्लो० १७-१८-१९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।  
 प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥  
 हषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।  
 सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥  
 यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।  
 कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥  
 योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।  
 धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

हे राजन् ! उसके उपरान्त अर्जुन ने शस्त्र चलाने की तैयारी के समय धृतराष्ट्र के पुत्रों को देख धनुष उठाकर कहा हे कृष्ण !

मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये । जब तक मैं युद्ध की कामना वाले स्थित हुये इनको देखलूँ कि मुझे किन-किन से युद्ध करना है । दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण चाहने वाले जो-जो राजा लोग इस सेना में आये हैं, उन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा ।

॥ अ० १ श्लो० २०-२१-२२-२३ ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।  
 सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥  
 भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।  
 उवाच पार्थं पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति ॥  
 तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथं पितामहान् ।  
 आचार्यान्मातुलान्श्रातुर्युत्रान्यौत्रान्सखींस्तथा ॥  
 श्वशुरान् सुहदश्वैव सेनयोरुभयोरपि ।  
 तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥  
 कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।  
 दृष्टेमं स्वजनं कृष्णं युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

श्री कृष्ण ने अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच भीष्म और द्रोणाचार्य तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने खड़ा कर कहा—हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुये कौरवों को देख ! उन दोनों सेनाओं में युद्ध की इच्छा से खड़े हुये पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को और ससुरों को देखकर करुणा से भरा हुआ शोक करता हुआ अर्जुन बोला—हे कृष्ण !

॥ अ० १ श्लो० २४-२५-२६-२७-२८ ॥

अर्जुन उवाच

सीदन्ति मम गात्राणि सुखं च परिशुष्यति ।  
वेपथुश्च शरीरे मे रोमर्हषश्च जायते ॥  
गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्वैव परिदहते ।  
न च शक्रोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

अर्जुन बोला

हे कृष्ण ! मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह भी सूख रहा है और कम्पायमान शरीर में रोमांच होता है । मेरा शरीर जल रहा है, धनुष हाथ से गिर रहा है और भ्रमित होकर मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूँ ।

॥ अ० १ श्लो० २९-३० ॥

भाव— [ “क्या अर्जुन को पता नहीं था कि मुझे किन-किन से युद्ध करना है? पता था—ये पापी हैं, इन्हें मारना क्षत्री का धर्म है परन्तु पितामह भीष्म, गुरु-द्रोणाचार्य एवं अन्य स्वजनों के प्रेम से मोहित होकर भ्रम में पड़ गया । यह बड़ी कठिन समस्या थी—इसी को लोक-लाज कहते हैं, जिसमें सारा संसार बँधा है । श्री कृष्ण भगवान् के कहने पर गुरु का वध करना अर्जुन के लिये असह्य था ।” ]

॥ अ० १ श्लो० २९-३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।  
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥  
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।  
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥  
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।  
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

हे केशव ! युद्ध के निमित्त आये हुये इन स्वजनों को मारकर अच्छा नहीं विपरीत समझता हूँ । मेरी इच्छा न विजय की है, न

राज्य की और न सुखों की है। हे गोविन्द ! हमें इस राज्य सुख, भोग और जीवन का भी क्या करना है; क्योंकि—जिनके लिये यह सब सुख आदि हैं वह सब तो जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।

॥ अ० १ श्लो० ३१-३२-३३ ॥

आचार्यः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।  
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥  
 एतान्न हन्तुमिच्छामि ग्रतोऽपि मधुसूदन ।  
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥  
 निहत्य धार्तराष्ट्रान् का प्रीतिः स्याजनार्दन ।  
 पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥  
 तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबास्थवान् ।  
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥'

यह गुरु, पितामह, दादा, मामा, ताऊ-चाचे, लड़के, पोते, ससुर, साले सब ही सम्बन्धी लोग हैं। मुझे इनके मारने पर तीनों लोकों का राज्य मिले तो भी मारना नहीं चाहता—इस पृथ्वी की तो बात ही क्या है। धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? "इन आतताइयों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।"

॥ अ० १ श्लो० ३४-३५-३६-३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।  
 कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥  
 कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।  
 कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्विर्जनार्दन ॥  
 कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।  
 धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥

अथर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।  
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥

इन लोगों की लोभ के कारण बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। ये नाश के दोषों को, बन्धु-विरोध के पाप को नहीं जानते। परन्तु कुल नाश के दोषों को जानने वाले हम लोगों को तो पाप से बचना चाहिये। क्योंकि कुल के नष्ट होने पर कुल धर्म नष्ट हो जाता है और धर्म नष्ट होने पर कुल को पाप दबा लेता है। पाप के अधिक बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, जिनसे वर्ण संकर उत्पन्न होता है।

॥ अ० १ श्लो० ३८-३९-४०-४१ ॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।  
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥  
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।  
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥  
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।  
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

वर्णसंकर कुल घातियों को और कुल नरक में ले जाने के लिये ही होता है क्योंकि पिण्ड आदि की क्रिया कर्म तथा कुलधर्म, जातिधर्म नष्ट होकर पितर बहुत काल तक नरक में बास करते हैं।

॥ अ० १ श्लो० ४२-४३-४४ ॥

**भाव-** [ "जो स्त्रियाँ अपने धर्म को छोड़ देती हैं, उनके बच्चों में धर्म का संस्कार नहीं रहता और वे अज्ञान को प्राप्त होकर पितरों को नरक में भोगने के लिये पिण्ड दान करते हैं। क्योंकि जिन्हें धर्म का ज्ञान है वे परमात्मा को जानकर मुक्त हो जाते हैं, उनको पिण्ड दान नहीं लगता। अतः यह पिण्ड दानादि

कर्म अज्ञानी वर्ण संकरों का ही कर्म है। बिना ज्ञान प्राप्त किये जो स्त्री सन्तान उत्पन्न करती है, वह सन्तान वर्ण संकर कहलाती है। चारों वर्णों का धर्म भी ज्ञान प्राप्ति है और वही कुलधर्म नाम से कहा गया है।”]

॥ अ० १ श्लो० ४२-४३-४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।  
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥  
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।  
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥  
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।  
विसृज्य सशरं चापं शोलः संविग्नमानसः ॥

सोचने का विषय है कि हम लोग बुद्धिमान होकर भी महापाप करने लगे हैं, राज-सुख के लिये कुल नष्ट करने लगे हैं। इससे तो अच्छा है कि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ सामना न करने वाले शस्त्र रहित को मार दें। इतना कहकर धनुष छोड़, अर्जुन रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

॥ अ० १ श्लो० ४५-४६-४७ ॥



## अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।  
 विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥  
 कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।  
 अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥  
 क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वव्युपपद्यते ।  
 क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोनिष्ठं परंतप ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले

आँसुओं से भरे नेत्रों वाले व्याकुल चिन्तित अर्जुन के प्रति  
 भगवान् मधुसूदन ने कहा—हे अर्जुन ! तुम को इस विषम स्थल में  
 यह अज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह आचरण न तो श्रेष्ठ  
 पुरुषों का है और न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को ही देने  
 वाला है । इसलिये नपुंसकता को प्राप्त मत हो, यह तेरे लिये  
 उचित नहीं है । हे तपस्वी अर्जुन ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को  
 त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो । ॥ ३० २ श्लो० १-२-३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।  
 इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजाहर्वरिसूदन ॥  
 गुरुनहत्वा हि महानुभावाज्ज्वेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।  
 हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिघान् ॥  
 न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।  
 यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

## अर्जुन द्वारा प्रार्थना

हे मधुसूदन ! मैं रणभूमि में भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्य के प्रति युद्ध कैसे करूँ । क्योंकि हे अरिसूदन ! ये दोनों ही मेरे पूजनीय हैं । इन महानुभाव गुरुजनों को न मार कर इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना भी अच्छा समझता हूँ । क्योंकि गुरुजनों को मारकर इनके रुधिर से सने हुए काम और भोगों को ही तो भोगँगा । मैं यह भी नहीं जानता कि हमें क्या करना है और न हम यह ही जानते हैं कि हम जीतेंगे या ये जीतेंगे, कि जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते । वही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े हैं ।

॥ अ० २ श्लो० ४-५-६ ॥

कार्यण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।  
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥  
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।  
अवाप्य भूमावसपलमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥  
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।  
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभ्रूव ह ॥

कायरतारूप दोष से हताश हुआ स्वभाव तथा धर्म के विषय में चित्त भ्रमित हुआ मैं आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ मेरे लिए श्रेष्ठ हो वह मुझे कहिये । मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत को शिक्षा दीजिये । क्योंकि धन-धान्य सम्पन्न निष्कण्टक राज्य को, देवताओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर करने में असमर्थ हूँ । हे गोविन्द ! मैं युद्ध नहीं करूँगा । ऐसा कहकर निद्रा को जीतने वाला अर्जुन चुप हो गया ।

॥ अ० २ श्लो० ७-८-९ ॥

श्रीभगवानुवाच

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।  
 सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥  
 अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।  
 गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥  
 न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।  
 न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा

दोनों सेनाओं के बीच इस प्रकार शोक से व्याकुल अर्जुन को, श्री कृष्ण भगवान ने हँसते हुए कहा—हे अर्जुन ! तू शोक न करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों जैसे वचन कहता है, परन्तु पण्डितजन न मरे हुओं का शोक करते हैं, न जिन्दों का, क्योंकि आत्मा नित्य है । ऐसा कोई समय नहीं था जब मैं, तू और ये सब नहीं थे या सब आगे नहीं रहेंगे ।

॥ अ० २ श्लो० १०-११-१२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।  
 तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥  
 मात्रास्पृशास्तु कौन्तेय शीतोष्णासुखदुःखदाः ।  
 आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥  
 यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।  
 समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

जैसे मनुष्य की कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है वैसी ही जीवात्मा को दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है । इस विषय में धीर पुरुष भ्रमित नहीं होता, हे कुनितपुत्र अर्जुन ! दुःख-सुख के देने वाले गर्भी-सर्दी तथा इन्द्रियों के विषय-भोग तो क्षणभंगुर और

अनित्य हैं। हे भारत ! तू उनको सहन कर, हे पुरुषश्रेष्ठ !  
दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को यह इन्द्रियों  
के विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्ष के लिए योग्य होता है ।

॥ अ० २ श्लो० १३-१४-१५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।  
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥  
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।  
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥  
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।  
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥  
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।  
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

असत् वस्तु का अस्तित्व और सत का अभाव नहीं है, इन  
दोनों का तत्त्व ज्ञानी-पुरुषों से देखा गया है। नाश रहित तो तू  
उसको जान कि जिससे यह सारा जगत् रचा गया है। इस नाश  
रहित नित्य रहने वाले जीवात्मा के सब शरीर नाशवान् हैं।  
इसलिए हे अर्जुन ! तू युद्ध कर। जो इस आत्मा को मारा जाने  
वाला या मरा मानता है, वह दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह  
आत्मा न मरता है, न मारा जाता है ।

॥ अ० २ श्लो० १६-१७-१८-१९ ॥

न जायते प्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।  
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।  
वेदाविनाशिनं नित्यं द्य एनमजमव्ययम् ।  
कथं स पुरुषः पार्थ कं धातयति हन्ति कम् ॥  
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि ॥  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

यह आत्मा किसी समय भी न जन्मता है, न मरता है; यह नित्य अजन्मा और अविनाशी है। जो आत्मा को अजन्मा और अविनाशी जानता है, वह किसको मारता और मरवाता है? जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीर को प्राप्त करता है।

॥ अ० २ श्लो० २०-२१-२२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शश्वाणि नैनं दहति पावकः ।  
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥  
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।  
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

इसे न तो शस्त्र ही काट सकते हैं, न अग्नि ही जला सकती है, और इसे जल गीला नहीं कर सकता, वायु भी इसे सुखा नहीं सकती। यह आत्मा अछेद्य है, न जलने वाला है, न गीला होता है, न सूख सकता है। यह नित्य सबके अन्दर स्थिर रहने वाला सनातन है।

॥ अ० २ श्लो० २३-२४ ॥

**भाव-** [ "इस शरीर के अन्दर रहने वाली आत्मा तो अविनाशी है ही, परन्तु आत्मा को शरीर में स्थित रखने वाला प्राण जो ईश्वरीय शक्ति है वह भी अमर है। उस प्राण के द्वारा ही वायु चलती है, अग्नि जलती है, जल उत्पन्न होता है और पृथ्वी फलती है। परमेश्वर की शक्ति से ही सारा विश्व जगमगा रहा है। अतः आदि-शक्ति के बिना परमेश्वर भी शक्ति हीन और निर्गुण है।" ]

॥ अ० २ श्लो० २३-२४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।  
 तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥  
 अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।  
 तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥  
 जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।  
 तस्मादपरिहार्योऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥  
 अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।  
 अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

यह व्यक्त न होने वाला, चिन्तन में न आने वाला, विकार रहित कहा जाता है। ऐसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है, यदि तू सदा जन्मने और मरने वाला माने तो भी शोक करने योग्य नहीं है, क्योंकि फिर तो जन्मने वाले की मृत्यु और मरने वाले का जन्म सिद्ध हुआ, तब भी तू शोक करने योग्य नहीं है। सभी भूत-प्राणी शरीर से पहले बिना शरीर के थे और शरीर के बाद भी बिना शरीर के हैं। केवल बीच में ही शरीर वाले दीखते हैं फिर तुझे चिन्ता क्या है? ]

॥ अ० २ इलो० २५-२६-२७-२८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।  
 आश्चर्यवच्छैनपन्यः श्रृणोति श्रुत्वाष्येन वेद न चैव कश्चित् ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।  
 तस्मात्सवर्णिण भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥  
 स्वधर्मर्मपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।  
 धर्म्याद्विद्वाच्छ्रेयोऽन्यतक्षत्रियस्य न विद्यते ॥

कोई विवेकी पुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, कोई ही आश्चर्य से कहता है तथा अन्य आश्चर्य से सुनता है और सुनकर भी नहीं जानता। यह देहधारी जीवात्मा

सभी शरीरों में अवध्य है, इसका वध नहीं होता। इसलिए सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिए तू शोक न कर और अपने धर्म को देखकर भी तू भय न कर, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है।

॥ अ० २ श्लो० २९-३०-३१ ॥

**भाव-** [ "धर्म के लिए युद्ध करना—धर्म की रक्षा के लिए अधर्मियों का नाश करना ही क्षत्री का धर्म है।" ]

यदृच्छ्या चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।  
 सुखिनः क्षत्रियाः पार्थं लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥  
 अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।  
 ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्यसि ॥  
 अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।  
 सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुये स्वर्ग के द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्री ही पाते हैं। यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा और सब लोग हमेशा तेरी अपकीर्ति करेंगे। वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिए मरने से भी बुरी होती है। अतः निन्दनीय कर्म करने से तो मरना भी अच्छा है।

॥ अ० २ श्लो० ३२-३३-३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।  
 येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥  
 अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।  
 निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥  
 हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।  
 तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।  
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

जिनमें तेरी बड़ी मान्यता है वे महारथी लोग भय के कारण तुझे युद्ध से भागा जानेंगे, तेरे बैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे तथा न कहने योग्य वचनों को कहेंगे फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ? इससे युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार श्रेष्ठ है । क्योंकि या तो मर कर स्वर्ग को प्राप्त होगा या जीतकर पृथ्वी को भोगेगा । इसलिए सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए खड़ा हो, तुझे पाप नहीं लगेगा ।

॥ अ० २ श्लो० ३५-३६-३७-३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।  
बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥  
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।  
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥  
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।  
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥

यह ज्ञान तेरे हित के लिए कहा है अब तू बुद्धि योग सुन कि जिससे तूं कर्म बन्धन को नाश करेगा । इसमें कर्म का नाश भी नहीं है और फलस्वरूप दोष भी नहीं है, इस धर्म का थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करता है । आत्मा की हानि किसमें है और लाभ क्या है यह विचार करने वाली निश्चयात्मक बुद्धि एक होती है और जो अज्ञानी पुरुष विषयों की कामनाओं में लीन रहते हैं, उनकी बुद्धि अनेक प्रकार की होती है ।

॥ अ० २ श्लो० ३९-४०-४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।  
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।  
 क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्चर्यगतिं प्रति ॥  
 भोगैश्चर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।  
 व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

जो सकामी पुरुष हैं, वेदवक्ता और विवाद में लीन हैं, वे फलों की इच्छा वाले सकाम कर्मों का पक्ष करते हैं, वे अविवेकीजन कर्मफल को भोगने तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लालच में बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं, उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्त वाले तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले पुरुषों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती ।

॥ अ० २ श्लो० ४२-४३-४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।  
 निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥  
 यावानर्थ उद्पाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।  
 तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥  
 कर्मज्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।  
 मा कर्मफलहेतुर्भूर्धा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥  
 योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।  
 सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

इसलिए हे अर्जुन ! सब वेदों में तीनों गुणों के विषयों का वर्णन है, तूँ दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से रहित होकर नित्य वस्तु तथा योग में स्थित रहकर आत्मपरायण हो । क्योंकि ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण को भी वेदों की आवश्यकता नहीं रहती; जिस प्रकार बड़े जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे जलाशय की आवश्यकता

नहीं रहती । अतः तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं । तूँ फलों की इच्छा न करके कर्म कर । हे धनंजय !। आसक्ति को त्यागकर कर्मों के सिद्ध होने न होने की चिन्ता को छोड़कर कर्मों को करना बुद्धि-योग कहा जाता है ।

॥ अ० २ श्लो० ४५-४६-४७-४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।  
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणः फलहेतवः ॥  
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।  
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥  
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।  
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

कामना रहित बुद्धि-योग से सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, हे धनंजय ! बुद्धि की शरण न लेकर जो फल की इच्छा करते हैं, वह अत्यन्त दीन हैं । बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है, लिपायमान नहीं होता । निश्चयात्मक बुद्धि-योग ही कर्म बन्धनों से छूटने का उपाय है । क्योंकि कामना रहित बुद्धि द्वारा योगीजन कर्मफल को त्यागकर जन्म रूपी बन्धन से मुक्त होकर अमृतमय परमपद को पाते हैं ।

॥ अ० २ श्लो० ४९-५०-५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिव्यतितरिष्यति ।  
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥  
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्लाला ।  
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्यसि ॥

जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूप दल-दल को पार कर जायगी तब तूँ सुनने योग्य और सुने हुए को समझेगा । जब तेरी अनेक

सिद्धान्तों से विचलित बुद्धि, परमात्मा में ठहरेगी तब स्थिर बुद्धि हुआ योग को प्राप्त होगा ।

॥ अ० २ श्लो० ५२-५३ ॥

**भाव-** [ "प्रत्येक मनुष्य को स्वभाविक ही ज्ञान प्राप्त की इच्छा होती है, परन्तु लोक-लाज तथा कुल-पुरोहित आदि पूर्वजों के मोह के कारण ईश्वरीय ज्ञान से वंचित रह जाता है । यदि मनुष्य सत्संग सुनता भी है तो इन्हीं की बुद्धि से तौलता है, अपनी बुद्धि से नहीं । जिस समय इस मोह को बुद्धि छोड़ देती है, उस समय विचार उत्पन्न होता है और वह ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा में स्थिर होकर शान्ति को प्राप्त करती है ।" ]

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

अर्जुन ने पूछा

हे केशव ! समाधि अवस्था में स्थिर बुद्धि वाला पुरुष कैसे स्थित रहता है ? क्या बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ? कैसे ध्यान करता है ?

॥ अ० २ श्लो० ५४ ॥

**भाव-** [ "परमात्मा के ध्यान में—प्राण अपान की समानता में बुद्धि का स्थिर हो जाना ही समाधि है, प्राणों को रोककर बैठना समाधि नहीं है । प्राणों के समान न होने का कारण यह मन है । यह मन प्राणों का अभिन्न अंश है, यह इन्द्रियों के विषयों में लगकर ही प्राणों को असमान रखता है । जिस समय मन परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाता है तभी प्राण समानता को प्राप्त होते हैं और बुद्धि स्वतंत्रता से विचार करती हुई इन्द्रियों का संचालन करती है,

क्योंकि बुद्धि आत्मा का अभिन्न अंश है। प्राणों की समान गति ही सद्गति या परम गति है, अथवा प्राणों का समान गति में न रहना ही अधोगति है।”]

॥ अ० २ श्लो० ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थं मनोगतान् ।  
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

श्री कृष्ण भगवान् बोले

हे अर्जुन ! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, उस काल में आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

“जो पुरुष आत्मा द्वारा अपने मन और बुद्धि को परमात्मा के ध्यान में लगाता है अथवा मन से विषयों का चिन्तन नहीं करता वह मनुष्य आत्मा में ही संतुष्ट है।”

॥ अ० २ श्लो० ५५ ॥

**भाव-** [यह संसार और शरीर नश्वर है, इसके विषय-भोग भी क्षणिक सुख को देकर महान् दुःख को देने वाले हैं। यह संसार और मनुष्य शरीर आत्मा की सद्गति के लिए है, यह केवल भोगों के लिए नहीं है। ऐसा बुद्धि द्वारा विचार कर जो मनुष्य अपनी शक्ति द्वारा बुद्धि का आसरा लेकर परमेश्वर की कृपा से अति बलवान् चंचल मन को परमात्मा के निरन्तर मुमिरण में लगाता है तथा नाम चिन्तन में स्थिर हुआ मन ज्योति वरूप के ध्यान में लीन हो जाता है, तब आत्मा, आत्मा में संतोष पाता है।]

॥ अ० २ श्लो० ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नपनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।  
 वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥  
 यः सर्वत्रानभिस्त्रेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।  
 नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥  
 यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।  
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिसका मन दुःखों की प्राप्ति में दुःखों को सहन कर दुःखी नहीं होता और सुख प्राप्ति की इच्छा नहीं रखता तथा राग, भय और क्रोध जिसका नष्ट हो गया है ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है । जो मनुष्य स्नेह रहित हुआ शुभ और अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

॥ अ० २ श्लो० ५६-५७-५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।  
 रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥  
 यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।  
 इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥  
 तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।  
 वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियों द्वारा न ग्रहण करने से विषय तो छूट जाते हैं पर राग नहीं छूटता, किन्तु परमात्मा का ध्यान करने से तो राग भी छूट जाता है । हे अर्जुन ! यह इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान के मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं ।

इसलिए उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके युक्त चित्त से मेरे में स्थित होवे क्योंकि इन्द्रियों के वश होने पर ही बुद्धि स्थिर होती है ।

॥ अ० २ श्लो० ५९-६०-६१ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।  
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्कोथोऽभिजायते ॥  
क्रोधाद्ववति सम्मोहः सम्मोहात्समृतिविभ्रमः ।  
समृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥  
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्वरन् ।  
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥  
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।  
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

परमात्मा का चिन्तन न करने से विषयों का चिन्तन होता है और विषयों की आसक्ति से कामनाओं में विघ्न पड़ने से क्रोध, क्रोध से मोह अर्थात् मृढ़ भाव उत्पन्न होता है तथा स्मरण शक्ति नष्ट हो जाने पर बुद्धि भ्रष्ट होकर मनुष्य साधन से गिर जाता है । परन्तु राग द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी परमात्मा की कृपा से प्रसन्नता को प्राप्त होता है । उस कृपा प्रसाद से सारे दुःख दूर हो जाते हैं । प्रसन्नचित्त की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।

॥ अ० २ श्लो० ६२-६३-६४-६५ ॥

नास्ति बुद्धिर्युक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।  
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥  
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।  
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिवाभ्यसि ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगर्हीतानि सर्वशः ।  
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

हे अर्जुन ! साधन रहित पुरुष के अन्दर श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती, न सद्भाव ही होता है और बिना आसक्तिभाव के शांति भी नहीं होती । क्योंकि जिस प्रकार जल में वायु नाव को चलायमान कर देता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी बुद्धि को हर लेती हैं । इसलिए हे महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से वश में की होती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है ।

॥ अ० २ श्लो० ६६-६७-६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।  
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिए जो रात्रि है उसमें योगी ध्यानजनित परमानन्द में जागता है और जिस नाशवान क्षणभंगुर सुखों में लोग जागते हैं वह तत्त्वज्ञानी के लिए रात्रि है ।

॥ अ० २ श्लो० ६९ ॥

**भाव-** [ "स्वप्न तो स्वप्न है ही, यह संसार भी स्वप्न है। इसीलिए इस संसार को रात्रि कहा गया है। एक स्वप्न आँख खुलने पर जान पड़ता है और दूसरा आँख बन्द होने पर स्वप्न हो जाता है। इस स्वप्न का न निद्रा में ही ज्ञान रहता है और न स्वप्न में ही। इसलिए संसार का स्वप्न होना सत्य है। इस संसार रूपी रात्रि में परमात्मा को जानकर और पहचानकर कोई योगी ही ध्यान के द्वारा जागता है। बाकी सारा संसार जो जिस कार्य में लगा है वह केवल स्वप्न ही देख रहा है। क्योंकि आँख बन्द होने पर सब अन्त में स्वप्न ही है। इस रात्रि में सोये हुए मनुष्यों को जगाने

के लिए ही भगवान् युग-युग में आकर अपने स्वरूप का बोध कराते हैं । ” ]

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियाँ समुद्र को चलायमान न करते हुए समुद्र में समा जाती हैं, उसी प्रकार सभी भोग पदार्थ विकार उत्पन्न न करते हुए योगी के अन्दर समा जाते हैं, इस प्रकार योगी ही शान्ति को पाता है न कि भोगों को चाहने वाला । जो पुरुष अहंकार रहित, ममता एवं सम्पूर्ण कामना रहित हुआ वर्तता है वह शान्ति को प्राप्त होता है । यह ब्रह्म को प्राप्त हुए योगी की स्थिति है । इस स्थिति को पाकर जो मोहित नहीं होता वह अन्त काल तक ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है ।

## अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।  
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥  
व्यामिश्रेणोव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।  
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

अर्जुन बोला

हे जनार्दन ! आप यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान तथा बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं । ये मिले हुए से वचन मेरी बुद्धि को भ्रमित करते हैं, अतः निश्चय एक बात कहिये जो श्रेष्ठ हो ।

॥ अ० ३ श्लो० १-२ ॥

भाव— [ “यद्यपि यह बिल्कुल साधारण सी बात है कि बिना ज्ञान के कोई भी कर्म नहीं हो सकता, फिर भी विद्वान्-जन ज्ञान से कर्म को पृथक् समझते हैं और अपने अज्ञान द्वारा दूसरों की बुद्धि को भ्रमित करके विपरीत कर्मों का ज्ञान देकर सत् ज्ञान और सत् कर्मों से वर्चित रखते हैं। क्योंकि जिस प्रकार सत् स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के बिना परमात्मा का ध्यान या परमात्मा के लिए कोई भी कर्म नहीं हो सकता; इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भी ज्ञान के विपरीत कर्मों को बिना जाने नहीं कर सकता। इसलिए सत् कर्म को भी जानना पड़ता है और असत् कर्म को भी तथा त्याज्य कर्म को भी जानकर ही त्यागा और किया जा सकता है। अर्जुन का प्रश्न भी अज्ञानी विद्वानों जैसा है।” ]

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।  
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥  
न कर्मणामनारभान्नैष्कर्म्य पुरुषोऽश्रुते ।  
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥  
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।  
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥  
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।  
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

श्री कृष्ण भगवान् बोले

हे निष्पाप अर्जुन ! संसार में मेरे द्वारा दो प्रकार के भाव कहे गये हैं—ज्ञान योग से सांख्य और कर्म योग से योगी । परन्तु न तो ज्ञानी को ही कर्म त्याग की आवश्यकता है और न योगी को ही । क्योंकि कर्म न करने से न तो संन्यासी ही होता है और न संन्यासी होने से ही ईश्वर प्राप्त होता है और न सम्पूर्ण कर्मों का ही त्याग हो सकता है । क्योंकि कोई भी पुरुष किसी समय भी क्षणमात्र के लिए कर्म किये बिना नहीं रह सकता । सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न हुए हैं, इसलिए जो मूढ़ बुद्धि या संन्यासी इन्द्रियों को विषयों से रोककर विषयों का मन से चिन्तन करता है वह मिथ्याचारी दम्भी है ।

॥ अ० ३ श्लो० ३-४-५-६ ॥

यस्त्वन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।  
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥  
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।  
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

जो पुरुष मन द्वारा विषयों का चिन्तन न करके कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता है, वह श्रेष्ठ है। इसलिये तूँ नियत किये हुये कर्म को जो तेरे लिये निश्चित है कर—क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म न करने से तेरा शरीर भी निर्वाह नहीं होगा।

॥ अ० ३ श्लो० ७-८ ॥

**भाव—** [ “राजा अथवा क्षत्रिय का धर्म है कि वह ज्ञानियों की रक्षा के लिये अधर्मियों का नाश करे। इसलिये भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को याद दिलाते हैं कि तेरे लिये जो निश्चित है वह कर्तव्य-कर्म तूँ कर। सेवा से ज्ञान की प्राप्ति होती है; अतः सेवा करना सभी का धर्म है और बिना सेवा के जीवन निर्वाह भी नहीं होता और न मुक्ति ही होती है। अतः सेवारूप कर्तव्य धर्म सब प्रकार श्रेष्ठ है।”]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्घः समाचर ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्यथ ॥

यज्ञ अर्थात् परमेश्वर के निमित्त की गई भक्ति के सिवाय अन्य कर्म में लगा हुआ मनुष्य ही कर्मों द्वारा बन्धता है। इसलिए उस परमेश्वर के लिए कर्म का भली प्रकार आचरण कर। क्योंकि, प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग आत्मोन्नति को प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम्हे इच्छित कामनाओं के देने वाला हो। तथा तुम लोग देवताओं

की और देव गण तुम्हारी उन्नति करें इस प्रकार आपस मे एक दूसरे की उन्नति करो ।

॥ अ० ३ श्लो० ९-१०-११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्थन्ते यज्ञभाविताः ।  
 तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुद्धके स्तेन एव सः ॥  
 यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।  
 भुद्धते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥  
 अन्नाद्ववन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।  
 यज्ञाद्ववति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्दवः ॥  
 कर्म ब्रह्मोद्दवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्दवम् ।  
 तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

यज्ञ से बढ़े हुए देवता तुम्हारे लिये बिना माँगे ही भोगों को देंगे परन्तु जो यज्ञ किये बिना भोगों को भोगता है वह देवताओं का चोर है । यज्ञ करने के पश्चात् संतजन सर्व पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग केवल शरीर पोषण के लिये ही पचते हैं, परमात्मा की भक्तिरूपी यज्ञ कर्म नहीं करते वे तो पाप को ही खाते हैं । क्योंकि सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति अन्न से होती है और अन्न वृष्टि से और वृष्टि यज्ञ से तथा यज्ञ कर्मों से उत्पन्न हुआ है और उस कर्म को ब्रह्म के ज्ञान से उत्पन्न हुआ जान और वह ज्ञान शब्द ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है । अतः सर्व व्यापी परमेश्वर सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ।

॥ अ० ३ श्लो० १२-१३-१४-१५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।  
 अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

हे पार्थ ! इसलोक में इस प्रकार चलाये हुये सृष्टि चक्र के अनुसार जो मनुष्य "परमात्मा के नियमानुसार" नहीं वर्तता है वह

इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला पाप आयु व्यर्थ ही जीता है ।  
॥ अ० ३ श्लो० १६ ॥

**भाव—** [ “इस संसार में प्राणी प्राण से जीवित हैं, बिना प्राण के कोई भी कुछ नहीं कर सकता । विश्वपति परमात्मा सभी प्राणियों को रात-दिन प्राण देता है । यदि वह प्राण न दे तो सब मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ । जो मनुष्य उस परमेश्वर के किये गये इस उपकार को नहीं मानता, उसकी सेवा पूजा नहीं करता, तो वह परमात्मा प्राण देवताओं को सौंप देता है । देवता लोग उन्हीं प्राणों के द्वारा मनुष्य को सुन्दर भोगों को देते हैं, यदि मनुष्य प्राणों को यज्ञ स्वरूप शब्द-ब्रह्म में अर्पण न करे तो ज्ञानेन्द्रियों के देवता और कर्मेन्द्रियों के देवता मनुष्य को स्वभाव, गुण और कर्मानुसार दुःख-सागर में भरमाते हैं, और मन, बुद्धि, अहंकार के संस्कारों को चित्त द्वारा धारण करके मनुष्य शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये नाना प्रकार की योनियों में जन्मता व मरता रहता है ।” ]

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तंश्च मानवः ।  
आत्मन्येव च संतुष्टस्य कार्यं न विद्यते ।  
नैव तस्य कृतेनाथो नाकृतेनेह कक्षन् ।  
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥  
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।  
असक्तो ह्याचरन्कर्मं परमाप्नोति पूरुषः ॥

जो मनुष्य आत्मा में प्रेम करता है, आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है । उस पुरुष का किये जाने से या न किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं है और न उसका सम्पूर्ण भूतों में स्वार्थ है, परन्तु उसके द्वारा लोक

हितार्थ कर्म किये जाते हैं। इसलिये तूँ आशक्ति को छोड़ निरन्तर कर्तव्य कर्म का आचरण करके ही परमगति पायेगा।

॥ अ० ३ १७-१८-१९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।  
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥  
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवतरो जनः ।  
स यत्वमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

जिस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आशक्ति रहित कर्म द्वारा ही परमगति को प्राप्त हुये हैं तथा लोकसंग्रह को देखकर भी तूँ कर्म करने के योग्य है; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके अनुसार ही वर्तता है, श्रेष्ठ पुरुषों का कर्तव्य ही लोक प्रमाण है।

॥ अ० श्लो० २०-२१ ॥

**भाव-** [ "ज्ञान प्राप्ति हेतु अपना मन सम्पूर्णतया महामुनी अष्टावक्र के चरणों में अर्पण कर स्थिर मन बुद्धि वाला राजाजनक जब क्रिया आदि संकल्पों से रहित हुआ उपरामता को प्राप्त हो गया तब ज्ञान देकर अष्टावक्र ने लोक हितार्थ राजाजनक को प्रजा के पालन हेतु राज्य करने की आज्ञा दी और राजा जनक ने गुरु आज्ञा का पालन किया। वही उदाहरण देकर भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि तूँ भी राजा जनक का अनुसरन कर।" ]

न मे पार्थीस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।  
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥  
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।  
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥  
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।  
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

यद्यपि मङ्गे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं, कुछ भी अप्राप्त नहीं है, तब भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ। क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कर्म में न बरतूँ तो सभी मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार ही वर्तने लग जायें और यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोक भ्रष्ट हो जायँ तथा मैं वर्ण संकर के करने वाला तथा सारी प्रजा का हनन करने वाला बनूँ।

॥ अ० ३ श्लो० २२-२३-२४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।  
 कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोकसंग्रहम् ॥  
 न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्ग्निनाम् ।  
 जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥  
 प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।  
 अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

हे भारत ! कर्म में आसक्त हुये अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं तैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोक शिक्षा को चाहता हुआ कर्म करे। अतः ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम तथा कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे और उनको भी परमात्मा की ओर लगावे। वास्तव में प्रकृति की रचना द्वारा ही सम्पूर्ण गुण और कर्म उत्पन्न हुये हैं फिर भी अहंकार वश जो मूढ़ जन हैं वो मैं करता हूँ ऐसा मान लेते हैं।

॥ अ० ३ श्लो० २५-२६-२७ ॥

तत्त्वविज्ञु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।  
 गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥  
 प्रकृतेगुणसम्भूदाः सज्जते गुणकर्मसु ।  
 तानकृत्सनविदो मन्दान्कृत्सनवित्र विचालयेत् ॥

हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभाग को जानने वाला तत्त्वज्ञानी गुण में गुण वर्तते हैं ऐसा मानकर मोहित नहीं होता । और प्रकृति के गुणों से मोहित पुरुष मुढ़ता बस कर्म में आसक्त होता है, उनको ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे ।

॥ ॐ ३ श्लो० २८-२९ ॥

**भाव-** [ "परमेश्वर प्रकृति सहित प्राणों का संचालन करते हुये सबके हृदय में स्थित है । ईश्वर से प्राण प्रकृति से अपान और दोनों के संयोग से समान का उत्पन्न होना ही तीन गुण हैं । सतोगुण अर्थात् अपान से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और तमोगुण अर्थात् प्राण से पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा रजोगुण अर्थात् समान से चार अंतःकरण उत्पन्न होकर गुणानुसार अपने-अपने कर्म में वर्तते हैं । जीव भी स्वभाव वश वर्तता है, किन्तु अज्ञान के कारण—मैं करता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं सोचता हूँ, मैं विचारता हूँ और धारण करता हूँ इस अहंकार के कारण फल सहित कर्मों में आसक्त हो जाता है ।" ]

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।  
 निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥  
 ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।  
 श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥  
 ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।  
 सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥  
 सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेज्ञानवानपि ।  
 प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

तृँ ध्यान-निष्ट चित्त से सब कर्मों को मेरे अर्पण करके आशा ममता और संताप रहित होकर युद्ध कर । जो मनुष्य दोष बुद्धि

रहित श्रद्धायुक्त सदा मेरे इस मत के अनुसार वर्तते हैं वे सम्पर्ण कर्मों से छूट जाते हैं और जो मेरे इस मत के अनुसार नहीं वर्तते उन सम्पर्ण ज्ञानों में मोहित चित्तवालों को तू कल्याण से भ्रष्ट हुआ जान। क्योंकि प्रकृति के गुणों के वश हुआ जीवात्मा चेष्टा करता है और ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है फिर इसमें कोई क्या करे।

॥ अ० ३ श्लो० ३०-३१-३२-३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थं रागद्वधौ व्यवस्थितौ ।  
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥  
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्मवनुष्ठितात् ।  
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मे भयावहः ॥

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इन्द्रियों के विषयों में राग तथा द्वेष न करे क्योंकि इसके ये दोनों महान् शत्रु हैं, इन दोनों को जीते। क्योंकि परमात्मा के निमित्त निश्चित किये हुये धर्म में मरना भी श्रेष्ठ है चाहे वह गुण रहित क्यों न हो और दूसरों को देखकर किया हुआ कर्तव्य धर्म भय देने वाला होता है।

॥ अ० ३ श्लो० ३४-३५ ॥

**भाव—** [ "विषय भोग की कामना से राग अर्थात् मोह उत्पन्न होता है और कामनाओं में विघ्न पड़ने पर उत्पन्न हुये क्रोध से मनुष्य द्वेष करता है। अतः यह काम और क्रोध ही आत्मा की दुर्गति के कारण अर्थात् शत्रु हैं। इनको जीतने के लिए परमात्मा के निमित्त किये गये निश्चित कर्म को करे। निज कर्म अर्थात् स्वधर्म में शरीर का त्याग करना भी श्रेष्ठ है परन्तु दूसरों के कर्तव्य में गुण दोष देखने से दोष वृति उत्पन्न होने का भय है।" ]

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।  
अनिष्ठन्नपि वाष्णोय बलादिव नियोजितः ॥

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष न चाहता हुआ भी किसकी दबाव  
युक्त प्रेरणा से पाप कर्म करता है ?

॥ अ० ३ श्लो० ३६ ॥

**भाव-** [ "मनुष्य के दो मित्र हैं—एक आत्मा का हित  
चिन्तक बुद्धि और दूसरा चंचल मदमस्त मन । बुद्धि हमेशा  
आत्मा के हित की बात करती है, परन्तु मनुष्य अपनी आत्मा की  
परवाह न करके मन की बातों में आकर जो बुद्धि की बात न  
मानकर विषय भोगों की इच्छा से पाप कर्म करता है वह आत्मा  
अपना स्वयं ही शत्रु है । जो आत्मा, परमात्मा की कामना रख कर  
बुद्धि से विचारकर सत्कर्म करता है वह आत्मा स्वयं अपना मित्र  
है । अतः न चाहने का प्रश्न ही नहीं, क्योंकि बिना कामना कर्म  
नहीं बनता । वास्तव में अपना हित न जानकर आत्मा काम वश  
पाप कर्म करता है ।" ]

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्धवः ।  
महाशनो महापाप्मा विद्युयेनमिह वैरिणम् ॥  
धूमेनाव्रियते वहिर्यथादशो मलेन च ।  
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥  
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिण ।  
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।  
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले

हे अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम और क्रोध रूपी अग्नि को ही इस विषय में बैरी जान । जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दरपन ढका जाता है तथा जेर से गर्भ ढका हुआ है, उसी प्रकार काम से ज्ञान ढका हुआ है । इस अग्नि के सदृश तृप्त न होने वाले ज्ञानियों के बैरी रूप काम से ज्ञान ढका हुआ है । मन और बुद्धि इसके स्थान हैं—यह काम ही, मन बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ज्ञान को ढक कर जीवात्मा को मोहित करता है ।

॥ अ० ३ श्लो० ३७-३८-३९-४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।  
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥  
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।  
मनसस्तु परा बुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः ॥  
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।  
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को अपने वश में करके ज्ञान विज्ञान के नष्ट करने वाले काम रूपी पापी को मार । क्योंकि इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है तथा जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है । ऐसा जान कर बुद्धि के द्वारा मन को अपने वश में करके, हे महाबाहो ! इस दुर्जय काम रूपी शत्रु को मार ।

॥ अ० ३ श्लो० ४१-४२-४३ ॥

## अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।  
 विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥  
 एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।  
 स कालनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥  
 स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।  
 भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

भगवान् श्री कृष्ण फिर बोले—

हे अर्जुन ! मैंने इस अविनाशी योग को विवस्वान के प्रति कहा और विवस्वान ने स्वयंभु मनु के प्रति तथा मनु ने राजा ईक्ष्वाकु के प्रति कहा । इस प्रकार परम्परा से प्राप्त यह योग राजर्षियों ने जाना, परन्तु हे परंतप ! वह योग बहुत समय से नष्ट प्राय हो गया । वह ही पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है । क्योंकि तू मेरा भक्त और प्यारा सखा है यह योग अति उत्तम और रहस्य का विषय है ।

॥ अ० ४ श्लो० १-२-३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।  
 कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण ! आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वत सृष्टि

से पहले अजन्मा था । इसलिये यह योग कल्प के आदि में आपने कहा था मैं कैसे जानूँ ?

॥ अ० ४ श्लो० ४ ॥

**भाव—** [ "विवस्वतः अर्थात् स्वतः जन्म लेने वाले स्वयंभू ने विश्व विख्यात विवस्वान मनु-सूर्य को ज्ञान दिया । जिस ज्ञान के द्वारा सारे विश्व में प्रकाश फैलाने वाले विवस्वान् मनु (सूर्य) के कुल में महाराजा इक्ष्वाकु उत्पन्न हुये जिस सूर्य कुल की महिमा सारे विश्व में विदित है; जो कि आदि ब्रह्मा को जन्म व ज्ञान देने वाले हंस का वंश है । जिस वंश में रघु नाम के महान् प्रतापी महाज्ञानी सर्वगुण सम्पन्न महाराजा हुये । उस रघुकुल में दलीप, सगर, राजा दशरथ ने तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम आदि ने जन्म लिया, इसलिये अर्जुन को आश्चर्य हुआ और पूछा कि मैं कैसे जानूँ ? ]

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।  
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥  
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।  
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्मायया ॥  
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।  
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥  
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।  
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

श्री कृष्ण भगवान बोले ।

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप ! तू उनको नहीं जानता, मैं उनको जानता हूँ । मैं अजन्मा

होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके अपनी रचना माया द्वारा करता हूँ। हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की बृद्धि होती है, तब मैं अपने रूप को रचता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्म स्थापन करने के लिये युग-युग में प्रगट होता हूँ।

॥ अ० ४ श्लो० ५-६-७-८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।  
 त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥  
 वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुषाश्रिताः ।  
 बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्दावमागताः ॥  
 थ यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।  
 मम वर्त्मनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥  
 काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवता� ।  
 क्षिणं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

मेरा जन्म और कर्म दोनों दिव्य-अलौकिक हैं, ऐसा जो तत्त्व से जानता है, वह शरीर त्यागकर पुनः जन्म को प्राप्त होकर मुझे ही प्राप्त होता है। राग, भय, क्रोध से रहित और मेरे आश्रित होकर के पहले भी ज्ञान तप (सेवा) से उपासते हुये मुझे प्राप्त हो चुके हैं। क्योंकि, हे अर्जुन ! जो मेरे को जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ। अतः बुद्धिमान् पुरुष सब प्रकार से मेरे वर्ताव के अनुसार ही वर्तते हैं। और जो मुझे तत्त्व से नहीं जानते वे फल की इच्छा से देवताओं को पूजते हैं, जिसका फल इस लोक में तुच्छ तथा नाशवान है। अतः मेरे लिये ही कर्म कर ।

॥ अ० ४ श्लो० ९-१०-११-१२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।  
 तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारभव्ययम् ॥  
 न मां कर्माणि लिप्यन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।  
 इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥  
 एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।  
 कुरु कर्मेव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

अतः गुण और कर्मों के विभाग से मैंने ही ब्राह्मण, धन्त्रिय, वैश्य और शूद्र रचे हैं। उस रचियता परमेश्वर को भी तूं अकर्ता ही जान। मैं न कर्मों में लिपायमान होता हूँ, न मेरी इच्छा ही रहती है। इस प्रकार जो तत्व से मुझे जानता है वह भी कर्मों में नहीं बन्धता। पहले भी मुक्त पुरुषों ने इसी प्रकार जानकर कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजों जैसे किये कर्मों को कर।

॥ ३० ४ श्लो० १३-१४-१५ ॥

**भाव-** [ "चारोंवर्ण परमेश्वर के लिये कर्म करने के लिये ही रचे गये हैं; परन्तु अज्ञान के कारण सगुण ब्रह्म को छोड़कर गुणरहित देवताओं को पूजने लगे। जिससे कुछ ब्राह्मण स्वयं ही ज्ञान रहित हो गये और कर्मों में लिपायमान होकर धर्म भ्रष्ट हो गये। चारों वर्ण अर्थात् धर्म के लिये चुने गये चारों जाति के लोग धर्म को—हृदय स्थित भगवान को भूल कर, धर्म रहित कर्म में लग गये।" ]

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।  
 तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥  
 कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।  
 अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥  
 कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।  
 स बुद्धिमान्मनुष्ये युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।  
ज्ञानाग्निदण्डकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

परन्तु कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? इस विषय में बुद्धिमान् ज्ञानी भी मौहित हैं। उस कर्म को तुझे कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ से मुक्त होगा । करने योग्य कर्म क्या है और न करने योग्य कर्म क्या है और जो कर्म त्यागने योग्य है, वह क्या है, यह जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है। जो पुरुष कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् और योगी है वह सम्पूर्ण कर्मों के करने वाला है। जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं और ज्ञान रूपी अग्नि में जिसके सभी कर्म भस्म हो गये हैं, उसे ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं अर्थात् वह ज्ञानियों में श्रेष्ठ माना जाता है।

॥ ३० ४ श्लो० १६-१७-१८-१९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।  
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥  
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।  
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥  
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।  
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥  
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।  
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

जो पुरुष कर्मों के फल की इच्छा न रखकर आत्मा में तृप्त है, किसी का आश्रय नहीं लेता वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता। क्योंकि जीत लिया है सम्पूर्ण कामनाओं को और शरीर को ऐसा आशा रहित पुरुष शारीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप

को प्राप्त नहीं होता। जो कुछ प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहने वाला, हर्ष-शोक, बहुधन्धों से मुक्त, ईर्ष्या से रहित, सिद्धि-असिद्धि में समान भाव वाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बन्धता। क्योंकि कामनाओं की आसक्ति से रहित ज्ञान में स्थित चित्त वाला योगी यज्ञ कर्म करके अन्य कर्मों में नहीं बन्धता।

॥ अ० ४ श्लो० २०-२१-२२-२३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।  
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

ब्रह्मार्पण की गई प्राणादि हवि ब्रह्म है और ब्रह्म रूपी अग्नि में किया जाने वाला हवन—जिसके द्वारा प्राण—ब्रह्म में लीन होते हैं वह ब्राह्मण है, इसलिये ब्रह्मरूपी कर्म में समाधिस्थ हुये योगी को ध्यान में जो प्राप्त है वह भी ब्रह्म है।

॥ अ० ४ श्लो० २४ ॥

"प्राणों को प्राण के द्वारा प्राण में हवन करना यज्ञ है क्योंकि प्राणों से उत्पन्न हुआ मन भी प्राण है और प्राण जिससे उत्पन्न हुये हैं वह भी प्राण है जिसे ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्म से परे शब्द ब्रह्म और ज्योतिर्मय ब्रह्म ये दोनों पारब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप हैं। जिन्हें जानकर अथवा देखकर ध्यान अवस्था में योगी समाधिस्थ होता है।

**भाव—** [ "ब्रह्म से उत्पन्न हुई मन बुद्धि, प्राण, आत्मा सभी ब्रह्म में लीन हो जाती हैं। इसलिये सबको ब्रह्म कहा गया है। जब ब्रह्म और विश्व को उत्पन्न करने वाली आदि शक्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है; तभी ब्रह्मरूप यज्ञ की रचना होती है और योगी को जो प्राप्त होता है वह उस यज्ञ में शब्द ही पारब्रह्म है।" ]

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।  
 ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥  
 श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।  
 शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥  
 सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।  
 आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

दूसरे—योगी अमृत पान करने के लिए देव यज्ञ इन्द्रियों द्वारा करते हैं और कोई योगी ब्रह्माग्नि में योग रूपी यज्ञ को अर्थात् सुमिरण द्वारा जप यज्ञ को हवन करते हैं और कोई स्वतंत्रता रूप अग्नि अर्थात् प्राणों की स्थिरता में श्रवणादि इन्द्रियों को हवन करके नाद श्रवण करते हैं और कोई सम्पूर्ण इन्द्रियों को भी तथा प्राणों को भी ध्यान रूपी अग्नि में हवन करते हैं। इस प्रकार—श्रवण, ध्यान, स्मरण, अमृतपान ये योग के चार मुख्य साधन हैं।

॥ ३० ४ श्लो० २५-२६-२७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।  
 स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितब्रताः ॥  
 अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।  
 प्राणापाननगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥  
 अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।  
 सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

ईश्वर भक्ति में धन को लगाना द्रव्य यज्ञ, तन से सेवा आदि कार्य करना तप, मन से ध्यान करना योग, स्वाध्याय, ज्ञान ये सभी यज्ञ हैं। कितने ही योगी यज्ञ कर्म में अपान को प्राण में तथा प्राण को अपान में हवन करते हैं तथा अन्य प्राण और अपान की गति को रोककर फिर समान गति से प्राणायाम के परायण होते हैं।

कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। इस प्रकार ये सब ही यज्ञ के जानने वाले होते हैं, बिना ज्ञान के नहीं।

॥ अ० ४ श्लो० २८-२९-३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।  
नायं लोकोऽस्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम् ॥  
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।  
कर्मजान्विद्धि तान्स्वनिवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥  
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परंतप ।  
सर्वं कर्माखिलं पार्थं ज्ञाने परिसमाप्ते ॥

यज्ञों के परिणाम रूप ज्ञानामृत को भोगने वाला योगी सनातन ब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होता है और यज्ञ रहित पुरुष के लिए तो न यह लोक है न परलोक ही सुखदाई है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों के मुख से अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। उन सब को तू शरीर, मन और इन्द्रियों द्वारा ही होने वाले जान। इस प्रकार तत्त्व से जानकर मुक्त हो जायेगा। हे पार्थ! सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ से ज्ञानयज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही शेष होते हैं। अर्थात् ज्ञान के लिए ही किये जाते हैं।

॥ अ० ४ श्लो० ३१-३२-३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।  
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥  
यज्ञात्वा न पुनर्माहेवं यास्यसि पाण्डव ।  
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥  
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।  
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

यथैधांस समिद्वोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।  
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

इसलिए दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा द्वारा निष्कपट भाव से किये गये प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान, तब ज्ञानी तत्त्वदर्शी संत तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे । जिसे जानकर फिर तुझे मोह नहीं होगा । और हे पाण्डव ! ज्ञान के ही द्वारा अपने अन्दर अपनी आत्मा में अविनाशी परमात्मा को देखेगा । यदि तू सब पापियों से भी अधिक पापी है तब भी ज्ञान रूप नौका द्वारा सब पापों से मुक्त हो जायेगा । जिस प्रकार जलती हुई अग्नि इंधन को जला देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी सम्पूर्ण पापों को भस्म कर देती है ।

॥ अ० ४ श्लो० ३८-३५-३६-३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।  
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥  
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं ज्ञत्परः संयतेन्द्रियः ।  
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥  
अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।  
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

अतः इस ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निसन्देह और कुछ भी नहीं है, उस ज्ञान को श्रद्धावान योगी ही बहुत समय तक स्वयं अपने ही हृदय में योग द्वारा अनुभव करता है और इन्द्रियों को जीतने वाला श्रद्धावान योगी ही ज्ञान को पाकर तुरन्त परम शान्ति को प्राप्त होता है । अज्ञानी और श्रद्धा रहित पुरुष तो संशय-युक्त परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, जिसे आत्मा में संशय है उसके दोनों लोक भ्रष्ट हो जाते हैं । वह दोनों लोकों में दुःखी होता है ।

॥ अ० ४ श्लो० ३८-३९-४० ॥

योगसंन्यस्तकर्मणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।  
 आत्मवन्तं न कर्मणि निबध्नन्ति धनंजय ॥  
 तस्माद्ज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।  
 छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठेत्तिष्ठ भारत ॥

हे धनंजय ! योग द्वारा समाप्त हो गये हैं शुभाशुभ कर्म जिसके और ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है संशय जिसका, ऐसे परमात्मा के ध्यान में लगे योगी को कर्म नहीं बांधते । हे भरतवंशी अर्जुन ! तू निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा योग में स्थित हो, अज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को ज्ञान रूपी तलवार से छेदन करके उठ ।

॥ अ० ४ श्लो० ४१-४२ ॥

**भाव-** [ "चित्त की वृत्तियाँ ही मन है और मन का ध्यान में लगकर निर्विषय हो जाना ही योग है इसलिए योग द्वारा जिसका मन निर्विषय हो गया है उसके सभी शुभाशुभ कर्म भोगने को बाकी नहीं रहते, क्योंकि विषयों में आसक्ति ही कर्म बन्धन है ।" ]

## अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।  
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रह्म सुनिश्चितम् ॥

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण ! आप संन्यास के कर्म की और फिर निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हो इन दोनों में जो निश्चित हो वह मुझे कहिये ।

॥ अ० ५ श्लो० १ ॥

**भाव—** [ “निष्काम कर्मयोग के बिना न तो सांख्य योग ही है और न कर्मयोग ही है अथवा न संन्यासी है और न योगी ही । क्योंकि योगी के लिए जिस प्रकार कामनाओं का त्याग करना आवश्यक है उसी प्रकार संन्यासी के लिए भी कामनाओं का त्याग करना आवश्यक है । दूसरे परमात्मा के लिए कर्म भी दोनों को ही करना है और ज्ञान भी दोनों को होना परम आवश्यक है । फिर दोनों में अन्तर क्या ?” ]

“निष्काम भाव से कर्म करते हुए परमात्मा के लिए कर्म करना कर्मयोग और सम्पूर्ण कर्मों को सगुण ब्रह्म को अर्पण करके उनकी आज्ञानुसार परमात्मा के लिए कर्म करना संन्यास योग है ।” ]

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।  
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।  
 निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्ममुच्यते ॥  
 सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।  
 एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥  
 यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।  
 एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले

हे अर्जुन ! संन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही कल्याण में श्रेष्ठ हैं, किन्तु कर्मों के संन्यास से कर्मयोग साधन में श्रेष्ठ है। जो योगी न किसी से द्वेष करता है, न किसी की इच्छा करता है, जो राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से मुक्त है, वह संन्यासी सुखी पूर्वक बन्धन से मुक्त है। इसलिए योगी और संन्यासी में अन्तर नहीं। जो सांख्य को और योग को पृथक-पृथक समझते हैं, वे पंडित नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान के बिना योग और योग के बिना ज्ञान नहीं होता। सांख्य-योग और कर्म-योग दोनों का फल परमात्मा की प्राप्ति है; इसलिए जो ज्ञान को और योग को एक देखता है वह यथार्थ देखता है।

॥ ३० ५ श्लो० २-३-४-५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः ।  
 योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥  
 योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।  
 सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥  
 नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।  
 पश्यञ्चृणवन्पृशञ्जिग्रन्तश्चनाञ्छन्स्वपञ्चसन् ॥  
 प्रलपन्विसृजन्नृहणन्नुन्विषन्निमिषन्नपि ।  
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

हे महाबाहो ! संन्यास अर्थात् कामनाओं का त्याग करना

निष्काम कर्मयोग के बिना दुःखदाई है और न बिना योग के मुनि ब्रह्म गति ही पाता है। आत्मा की कामना को तथा इन्द्रियों को जीतने वाला विशुद्ध आत्मा ही सर्वभूतात्माओं के लिए कर्म करता हुआ भी कर्म में लिपायमान नहीं होता। तत्वज्ञानी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, स्वाँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता हुआ और मीचता हुआ भी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषय में वर्तती हैं ऐसी धारना से ध्यान में मस्त रहता है।

॥ अ० ५ श्लो० ६-७-८-९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।  
 लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाभसा ॥  
 कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।  
 योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥  
 युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।  
 अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥  
 सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।  
 नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्ति कारयन् ॥

परन्तु जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके कामनाओं को त्यागकर कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिपायमान नहीं होता। कर्मयोगी भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि की आसक्ति को छोड़ कर्म करता है और कर्मों के फल को न चाहता हुआ शान्ति पाता है, कामी कामवश बँधता है और योगी सब कर्मों को मन से न करके प्रभु आज्ञा से करता हुआ आत्मा से आत्मा में विश्राम पाता है।

॥ अ० ५ श्लो० १०-११-१२-१३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।  
 न कर्मफलं संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥  
 नादते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।  
 अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुहूर्न्ति जन्तवः ॥  
 ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।  
 तेषामादित्यवज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

इसी प्रकार परमेश्वर भी भूतप्राणियों के न कर्त्तापन को, न कर्मों को और न कर्मों के फलों को तथा न संसार को ही रचता है; बल्कि उस परमेश्वर की शक्ति द्वारा ही यह सारा विश्व रचा गया है। परमेश्वर न किसी पापों को और न शुभ कर्मों को ही ग्रहण करता है, यह तो माया के द्वारा अज्ञान से ज्ञान ढका है। इससे सब जीव भ्रमित हैं। परन्तु जिनका अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य के सदृश परमप्रकाश रूप परमात्मा को प्रकाशता है।

॥३० ५ श्लो० १४-१५-१६॥

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।  
 गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्पणाः ॥  
 विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।  
 शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥  
 इहैव तैर्जितः सगों येषां साम्ये स्थितं मनः ।  
 निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥  
 न प्रहृष्टेत्रियं प्राप्य नोद्विजेत्राप्य चाप्रियम् ।  
 स्थिरबुद्धिरसंपूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

हे अर्जुन ! परमेश्वर के ध्यान में जिसकी बुद्धि और मन स्थित है, वह ज्ञान के द्वारा परमगति पाता है। वे ज्ञानीजन, विद्वान्, पण्डित, गौ, हाथी, कुत्ते और चाणडाल की भी आत्मा को समान

दृष्टि से देखते हैं। जिनका मन समत्व भाव में स्थित है वे जीते जी ही संसार से मुक्त हैं। जो पुरुष प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर हर्षित नहीं होते और अप्रिय वस्तु से दुःखी नहीं होते, ऐसे स्थिर बुद्धि संशय रहित ब्रह्म के ज्ञाता ब्रह्म में स्थित हैं।

॥ अ० ५ श्लो० १७-१८-१९-२० ॥

ब्रह्मस्यशेषु सक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।  
 स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमशनुते ॥  
 ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।  
 आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥  
 शक्रोतीहैव यः सोदुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।  
 कामक्रोधोद्वचं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥  
 योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तज्योतिरेव यः ।  
 स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

विषय भोगों में आसक्ति रहित पुरुष ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। यद्यपि विषय भोग विषयी पुरुषों को सुख रूप दीखते हैं परन्तु अन्त दुःखदाई है, बुद्धिमान विषयों में लीन नहीं होते। शरीर नष्ट होने से पहले ही जिसने काम क्रोध को जीत लिया है वही योगी और सुखी है। जो आत्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही ज्ञान वाला तथा पारब्रह्म परमेश्वर के साथ एक ही भाव वाला सांख्य योगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है।

॥ अ० ५ श्लो० २१-२२-२३-२४ ॥

**भाव-** [ "एकही भाव उस योगी के कहे जाते हैं जो हृदय स्थित परमात्मा में और गुरु में अन्तर नहीं जानता और मन से, वचन से, कर्म से भजन करता हुआ सेवा करता है। प्रभु की शरणागत हुआ योगी-सन्यासी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। ]

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्पषाः ।  
 छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥  
 कामक्रोधविद्युक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।  
 अभिनो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

जिनके संशय और पाप नष्ट हो गये हैं, सबकी भलाई में प्रेम रखते हैं, जिनका ध्यान भगवान में है, ऐसे ब्रह्म वेत्ता शान्त ब्रह्म में लीन रहते हैं। काम, क्रोध और चित्त को जीतने वाले निर्वाण ब्रह्मपद में वर्तते हैं।

॥अ० ५ श्लो० २५-२६॥

**भाव-** [ "सर्वव्यापी श्री सद्गुरु देव भगवान् की लीलाओं को उनके गुणों को गाने से पाप नष्ट होते हैं तथा सत्संग एवं सेवा करने से संशय नष्ट होते हैं और प्रेम पूर्वक भजन अभ्यास करने से काम-क्रोध जीता जाता है। ऐसा ब्रह्म का ज्ञाता ही निर्वाण गति पाता है। जिसकी दृष्टि में एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा परमदेव ही सद्गुरुदेव हैं, उसके सिवा दूसरा कोई भी नहीं है। जो सारे विश्व में परम-पिता परमेश्वर को ही विभूतियों सहित व्यापक तथा लीलाधारी देखता है वह ऐसा अनन्य गतिवाला ही "स अनन्यःसि" अर्थात् संन्यासी निर्वानपद को प्राप्त हुआ समझा जाता है। अन्तर्यामी परमेश्वर से गुरु को अलग समझना ही अज्ञान है; क्योंकि सद्गुरु का स्वरूप सबके अन्दर अन्तर्यामी होता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्वक्षुश्वैवान्तरे भ्रुवोः ।  
 प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥  
 यतेन्द्रियमनोबुद्धिमुनिर्मोक्षपरायणः ।  
 विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।  
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

इसलिये बाहर के विषय भोगों को चिन्तन न करके बाहर ही त्यागकर नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में आने-जाने वाले प्राण को समान करके ध्यान में चिन्ता रहित मन बुद्धि को लगाकर मुनि मोक्ष पाता है। जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है वह सदा मुक्त है। मेरा भक्त मुझको यज्ञ तप अर्थात् सेवा भक्ति को प्राप्त करने वाला सब ईश्वरों का ईश्वर सब भूत प्राणियों का हितकर प्राण दाता जानकर शान्ति पाता है। ]

॥ अ० ५ श्लो० २७-२८-२९

**भाव-** [ "जिस समय योगी मन बुद्धि और प्राणों को भी शब्द ब्रह्म में लीन कर देता है; तब उस योगी के प्राण की गति को परमेश्वर समान करता है। उस समान गति में योगी प्रभु के दर्शन पाकर मोक्ष गति पाता है। अर्थात् जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।" ]

## \* अथ षष्ठोऽध्यायः \*

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।  
 स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्वचाक्रियः ॥  
 यं सन्यासमिति प्राहुयोर्गं तं विद्धि पाण्डव ।  
 न ह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥  
 आरुक्षोमुनेयोर्गं कर्म कारणमुच्यते ।  
 योगारुद्धस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले—

जो कर्म के फल को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह सन्यासी है, योगी है। केवल अग्नि और क्रिया-कर्म को त्यागने वाला सन्यासी नहीं है। जो सन्यासी है वही योगी है। हे पाण्डव ! जिसका मन वश में नहीं है, वह न योगी है और न सन्यासी ही है। ध्यानयोग में लगे योगी को मन के संकल्पों को त्यागकर निष्काम भाव से कर्म करना श्रेष्ठ बताया जाता है।

॥३० ६ श्लो० १-२-३॥

**भाव—** [“सांख्य में और सन्यास में अन्तर नहीं क्योंकि सांख्य (ज्ञान) के द्वारा योग की प्राप्ति होती है और वह योग निष्काम कर्म के बिना भी प्राप्त नहीं होता। इसलिए सांख्य योग अथवा निष्काम कर्मयोग में अन्तर नहीं है। किन्तु सन्यासी उसको कहते हैं जो सम्पूर्ण कर्मों को परमब्रह्म परमेश्वर के अर्पण करके स्वयं भी प्राण सहित अर्पण हो जाय। सांख्ययोगी, कर्मयोगी और सन्यासी का ज्ञान और कर्म में अन्तर नहीं।”]

यदा हि नान्द्रयाथेषु न कर्मस्वनुपज्ञते ।  
 सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥  
 उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥  
 आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥  
 बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।  
 अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

योग अभ्यास में लगा हुआ योगी जिस समय इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्त नहीं होता, इच्छाओं को त्याग देता है, वह योग अभ्यासी कहा जाता है। मनुष्य को चाहिये अपनी आत्मा का उद्धार करे, इसे अधोगति में न ले जाये। यह आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है, जिसने मन को जीत लिया वह अपना मित्र और जिसने इन्द्रियों के विषयों में मन को लगाया वह आत्मा ही अपना शत्रु है।

॥ अ० ६ श्लो० ४-५-६ ॥

**भाव-** [ "इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अथवा आत्मा के द्वारा काम को ही जीता है क्योंकि काम से ही बुद्धि चलायमान होती है और कामनाओं से मन सहित इन्द्रियाँ भी चलायमान हो जाती हैं। अतः आत्मा को चाहिये कि भोगों की कामना न करे।" ]

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।  
 शीतोष्णासुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥  
 ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।  
 युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाशमकाङ्क्षनः ॥  
 सुहन्मित्रार्थुदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।  
 साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

जिसकी जीती हुई आत्मा परमात्मा में शांत है, उसके लिये

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख, मान-अपमान तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ सब शान्त हैं। ऐसा जो ज्ञान विज्ञान में तृप्त है, विकार रहित है, इन्द्रियाँ विषयों से जीती हुई हैं और लोहा सोना जिसके लिये बराबर है। ऐसा योगी ही योग युक्त है। इनमें भी जो बैरी और मित्र, उदासीन या सम्बन्धी, द्वेष या बन्धु धर्मात्मा हो या पापी सबमें समान भाव रखता है वह योगी एवं सर्व श्रेष्ठ है।

॥अ० ६ श्लो० ७-८-९॥

**भाव—** “जो आज बैरी है वह कल मित्र हो सकता है और मित्र बैरी भी हो सकता है इसी प्रकार धर्मात्मा भी। जिस प्रकार बाल्मीकि पहले खूनी डाकू था, सत्संग की महिमा से महाऋषि बन गया उसी प्रकार धर्मात्मा भी कुसंग की महिमा से दुराचारी बन जाता है।”

योगी युज्ञीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।  
 एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥  
 शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।  
 नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥  
 तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।  
 उपविश्यासने युज्ञ्याद्योगमात्मविशद्धये ॥

सम्पर्ण आशाओं को त्याग योगी सदा चित्तात्मा को ध्यान में स्थिर रखें, कैसे कि शुद्ध भूमि में और प्रतिष्ठित सुन्दर देश में आत्मा की स्थिरता का आसन लगाकर न तो अपनी इच्छाओं को ऊँचा ले जाय और न नीचा; अतः आत्मा रूपी आसन में दबा दे। ऐसे आसन पर बैठकर मन को ध्यान में एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिये योग अभ्यास करे।

॥अ० ६ श्लो० ९०-९१-९२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।  
 संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥  
 प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।  
 मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥  
 युज्ञन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।  
 शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थापथिगच्छति ॥

काया सिर और गले को सीधा रखकर इधर-उधर न देखकर नाक की अगली ओर देखता हुआ शान्त आत्मा से ब्रह्म का आचरण करता हुआ विषयों से मन को रोककर मेरा चिन्तन करे, मेरे में लगे हुए चित्त को ध्यान में लगावे। इस प्रकार योगी नित्य परमात्मा के ध्यान में लगा हुआ स्वाधीन मन वाला परमानन्द परम शान्ति पाता है।

॥ अ० ६ श्लो० १३-१४-१५ ॥

**भाव-** [ "तत्वदर्शी संत महात्माओं द्वारा जो सद्गुरुदेव का ज्ञान प्राप्त हुआ है तदनुसार ब्रह्म-ज्योति का ध्यान, शब्द ब्रह्म का चिन्तन, मनकी एकाग्रता के लिए शब्द-श्रुति की एकता में मन और प्राणों का हवन करना तथा ज्ञानामृत का पान करना ही ब्रह्मचारी का "ब्रह्माचरण" है।" ]

नात्यशनतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्रतः ।  
 न चाति स्वप्रशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥  
 युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।  
 युक्तस्वप्रावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥  
 यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।  
 निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥  
 यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा सृता ।  
 योगिनो यतचित्तस्य युक्ततो योगमात्मनः ॥

किन्तु यह योग न तो बहुत खाने वाले का और न भूखे रहने वाले का ही सिद्ध होता है, न जागने वाले का, न स्वप्न ही देखने वाले का सिद्ध होता है। हे अर्जुन ! यह योग तो उचित अहार-विहार तथा उचित कर्म की चेष्टाओं से सिद्ध होता है। सम्पूर्ण कामनाओं से, चिन्ताओं से रहित मन चित्तात्मा ध्यान में स्थिर हो जाता है, वह योग युक्त है। जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक की ज्योति स्थिर रहती है; उसी प्रकार योगी का चित्त भी ध्यान में स्थिर रहता है।

॥अ० ६ श्लो० १६-१७-१८-१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।  
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥  
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम् ।  
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥  
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।  
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

योगी का चित्त जब योग अभ्यास में शान्त हो जाता है और आत्मा की शान्ति का अनुभव करता है। इन्द्रियों के विषयों से छूटी हुई बुद्धि आत्मानन्द का अनुभव करती है और भगवत् ध्यान से चलायमान नहीं होती; इस परमानन्द से बढ़कर जो दूसरा लाभ नहीं समझता है उसे बहुत बड़ा दुःख भी चलायमान नहीं करता।

॥अ० ६ श्लो० २०-२१-२२॥

**भाव-** [ "परमेश्वर के ध्यान में स्थित हुए योगी को दुःख नहीं होता और यदि होता भी है तो भगवान् की याद से महान् सुख का कारण बन जाता है। अतः दुःख के समय भी ध्यान से चलायमान न होकर योगी परमानन्द को पाता है।" ]

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।  
 स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विणचेतसा ॥  
 संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।  
 मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥  
 शनैः शनैरुपरमेदबुद्ध्या धृतिगृहीतया ।  
 आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

जो दुःख रूप संसार के संयोग से रहित है और योग के साथ है जो निश्चय करके ध्यान योग में स्थित है। ध्यान उसके लिए अनिवार्य है। उसे चाहिए कि सम्पूर्ण कामनाओं को वासना और आसक्ति सहित त्यागकर मन इन्द्रियों के समुदाय को वश करके लगातार अभ्यास करता हुआ धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा के ध्यान में स्थित करके परमात्मा के सिवाय कुछ भी चिन्तन न करे।

॥ अ० ६ श्लो० २३-२४-२५ ॥

**भाव-** [ "निरन्तर सुमिरन-प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में और अंत में तथा सभी कार्यों को करता हुआ भगवत् नाम का ही चिन्तन करे, दिन रात, सोते-जागते, उठते-बैठते सब समय में स्मरण करे।" ]

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।  
 ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥  
 प्रशान्तमनसं होनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।  
 उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्पषम् ॥  
 युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्पषः ।  
 सुखेन ब्रह्मसंपर्शमत्यन्तं सुखमश्रुते ॥

परन्तु जिसका मन वश में नहीं हुआ है, वह स्थिर न रहने वाले मन को सांसारिक पदार्थों से रोककर बारम्बार परमात्मा में

निरोध करे । जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है, पाप से रहित है, रजोगुण शान्त हो गया है; उसे परमात्मा के साथ ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । पाप रहित योगी सुख पूर्वक ब्रह्म स्पर्श से अत्यन्त सुख भोगता है ।

॥ अ० ६ श्लो० २६-२७-२८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।  
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥  
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।  
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥  
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।  
सर्वथा वर्तमानोऽयि स योगी मयि वर्तते ॥  
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।  
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

सर्व भूतात्माओं में परमात्मा की स्थिति और परमात्मा में सर्व भूत प्राणियों को जो सब जगह देखता है, वह योगी समान देखता है, वह मुझे सर्वत्र और सबको मुझमें देखता है। उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह भी मेरी आँखों से दूर नहीं रहता। जो योगी मुझे सर्व भूतप्राणियों में स्थित जानकर भजता है वह हमेशा मुझमें ही वर्तता है। जो अपनी समान दृष्टि से सम्पूर्ण भूतों में समान देखता है वह सुख-दुःख को भी समान देखता है वह मेरे मत से श्रेष्ठ है ।

॥ अ० ६ श्लो० २९-३०-३१-३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।  
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दुर्धम् ।  
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

अर्जुन बोला

हे मधुसूदन ! समतापूर्वक जिस ध्यानयोग का आपने वर्णन किया उसमें मैं अपनी चंचलता की स्थिरता को नहीं देखता हूँ । यह मन बड़ा चंचल, दृढ़ और बलवान है । वायु की भाँति इसका रोकना बड़ा कठिन है ।

॥ अ० ६ श्लो० ३३-३४ ॥

**भाव-** [ "सांसारिक भोगों के कारण जो इस शरीर में आसक्त है और भोगों की तथा अनेकों कार्यों की जिसे चिन्ता है । जो इस नशवर शरीर के जितना भी अपनी आत्मा से प्रेम नहीं करता और चाहता है मन भजन में लगे, परन्तु रात्रि और सूर्य एक जगह कैसे रह सकते हैं ? परमात्मा के ध्यान में लगाने के लिए तो भोगों की कामना त्यागनी ही पड़ेगी । मन को विषय भोग में न लगाकर परमात्मा के ध्यान में लगाना ही होगा । संसारिक सेवा तथा कार्यों से ही मन वश में कैसे होगा ? ]

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।  
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्णते ॥  
असंयतात्मना योगो दुष्टाप इति मे मतिः ।  
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

श्री कृष्ण भगवान बोले ।

हे अर्जुन ! निसन्देह यह मन चंचल है, कठिनता से वश में होने वाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! यह योगाभ्यास और वैराग्य से

वश में किया जा सकता है। क्योंकि मन को वश में न करने से योग की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा मैं मानता हूँ। परन्तु मन को वश में करने का ही तो यह उपाय है कि विषय भोगों को त्यागकर मन को शुभकार्य में लगावे यह वैराग्य है और विषयों का चिन्तन न करके ध्यान में मन को लगाना अभ्यास है।

॥ अ० ६ श्लो० ३५-३६ ॥

**भाव-** [ “मन को ध्यान में लगाने के लिए ही तो बार-बार कामनाओं का त्याग करने को कहा है। क्योंकि कामना ही मन की चंचलता का कारण है।” ]

### अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।  
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥  
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छन्नाभ्रमिव नश्यति ।  
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥  
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।  
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न हुपपद्यते ॥

### अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण ! यदि श्रद्धा सहित प्रयत्न करने पर भी वश में न होने वाला मन योग से चलायमान हो जाय तो योग सिद्धि को प्राप्त न होकर उसकी क्या गति होगी ? क्या वह अप्रतिष्ठित मृढ़ ब्राह्मण की भाँति पथ-भ्रष्ट हो जायगा ? हे महाबाहो ! मेरे इस संशय को छेदन करने के लिए हे कृष्ण ! आप ही समर्थ हैं, आपके सिवाय इस संशय का छेदन करने वाला मिलना असम्भव है।

॥ अ० ६ श्लो० ३७-३८-३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।  
न हि कल्याणकृत्कश्चिददुर्गतिं तात गच्छति ॥  
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।  
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले

हे पार्थ ! उस पुरुष की न इस लोक में और न परलोक में ही दुर्गति होती है; क्योंकि कल्याण में लगा कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता । वह प्रयत्न किये गये पुण्यों के फलस्वरूप कुछ समय तक पुण्यवान् उत्तम लोकों को प्राप्त होकर श्रीमान् पवित्रात्माओं के घर में जन्म लेता है ।

॥ अ० ६ श्लो० ४०-४१ ॥

**भाव—** [ "जब बुरे कर्म करने वाला फल भोगने के लिए नरक में जाता है और पूण्य कर्म करने वाला स्वर्ग में जाता है तो भगवान् का भक्त ही कैसे नष्ट होगा ? वह भी अपने किये गये सत्‌कर्मों का फल पुण्यवान् लोकों में भोगकर ऐसे घर में जन्मता है, जहाँ भगवान् की भक्ति में ही दिन-रात बीतता हो तब सुगमता से भक्ति योग में लगकर भगवत् प्राप्ति रूप परम शान्ति पाता है ।" ]

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।  
एतद्विदुर्भतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥  
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।  
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥  
पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।  
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥

अथवा योगी पुरुषों के कुल में आता है जो कि इस लोक में दुर्लभ है। हे कुरुनन्दन ! वह पुरुष पहले की देह में बुद्धि के संयोग से किये गये प्रयत्नों के द्वारा, पूर्व संस्कारों के द्वारा योग सिद्धि को प्राप्त होता है। वह विषय भोगों में लगा हुआ भी पूर्व अभ्यास के बल पर शब्द-ब्रह्म के योग अभ्यास में बर्तता है।

॥ अ० ६ श्लो० ४२-४३-४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।  
 अनेक जन्मसंसिद्धस्तो याति परां गतिम् ॥  
 तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।  
 कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥  
 योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।  
 श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

जब प्रयत्न करने से योगी परमगति को प्राप्त होकर पापों से मुक्त हो जाता है तो अनेक जन्मों से योग सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी भी परम गति को पाता है। इसलिए योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन ! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी अन्तर आत्मा से निरन्तर स्मरण करता हुआ मुझ परमेश्वर को भजता है, वह श्रेष्ठ मान्य है।

॥ अ० ६ श्लो० ४५-४६-४७ ॥

**भाव-** [ "सन्यासी हो या कर्मयोगी जो निष्काम कर्म अर्थात् सम्पूर्ण कामना रहित होकर परमेश्वर को भजता है, अर्थात् सेवा भक्ति करता है वह श्रेष्ठ है।" ]

## \* अथ सप्तमोऽध्यायः \*

श्रीभगवानुवाच

मव्यासक्तमनाः पार्थं योगं युज्ञन्वदाश्रयः ।  
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥  
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।  
यज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ञातव्यमवशिष्यते ॥  
मनुष्याणां सहस्रेषु कक्षिद्यतति सिद्धये ।  
यततामपि सिद्धानां कक्षिन्मां वेति तत्त्वतः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

हे पार्थ ! मेरे में आसक्त हुए मन से, अनन्य भाव से योग में लगा हुआ मुझे सभी कुछ जिस प्रकार संशय रहित जानेगा सो सुन ! मैं तुझे उस ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा जिसे जान कर जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता । परन्तु हजारों मनुष्यों में कोई ही योग सिद्ध होता है और उन सिद्धों में भी कोई ही मुझे तत्त्व से जानता है ।

॥ अ० ७ श्लो० १-२-३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।  
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥  
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।  
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥  
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।  
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥  
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।  
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकार की प्रकृति हैं। यह तो अपरा है और परा वह प्रकृति है जिससे हे महाबाहो! यह जीव रूप भूतादि सारा विश्व धारण किया गया है। ये सब योनि, भूत प्राणि आदि सारे जगत का मैं उत्पन्न, पालन तथा प्रलय करने वाला हूँ। हे धनंजय! मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत धारे में मणियों की भाँति मेरे में ही गूँथा है।

॥ अ० ७ श्लो० ४-५-६-७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।  
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥  
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।  
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥  
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थं सनातनम् ।  
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥  
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।  
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

हे अर्जुन! जल में मैं रस हूँ, चन्द्र-सूर्य में मैं प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में प्रणव हूँ और आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। पृथ्वी में पुण्य गन्ध, अग्नि में तेज, सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन और तपस्वियों का तप मैं हूँ। हे पार्थ! तू सब भूतों का सनातन बीज मुझे ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। मैं बलवानों का सामर्थ्य और धर्मानुकूल सर्व भूतों में काम मैं हूँ।

॥ अ० ७ श्लो० ८-९-१०-११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।  
मत्त एवेति तात्त्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भविरेभिः सर्वमिदं जगत् ।  
 मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥  
 दैवी होषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।  
 मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥  
 न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।  
 माययापहतज्ञाना आसुं भावमाश्रिताः ॥

और भी जो सात्त्विक, राजसिक, तामसिक होने वाले भाव हैं सब मेरे से ही उत्पन्न हुए जान, किन्तु उनमें मैं और मेरे में वे नहीं हैं । गुणों के कार्य सत्-रज-तम और राग-द्रेष विकार के सम्पूर्ण विषयों से संसार मोहित है, मुझे अविनाशी को नहीं जानता । यह त्रिगुण मयी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो मुझे निरन्तर भजते हैं वे इस माया से तर जाते हैं । माया से हरे हुए ज्ञान वाले अधम मनुष्य दूषितकर्म करने वाले मूढ़ मुझे नहीं भजते ।

॥ अ० ७ श्लो० १२-१३-१४-१५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।  
 आतों जिज्ञासुरथर्थीं ज्ञानी च भरतर्षभ ॥  
 तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।  
 प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥  
 उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।  
 आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुतमां गतिम् ॥  
 बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।  
 वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

हे अर्जुन ! चार प्रकार से मेरे भक्त मुझे भजते हैं—आर्त—दुःख से बचने के लिये, जिज्ञासु—जानने की इच्छा से, अर्थार्थी—प्राप्ति की इच्छा से, ज्ञानी—अज्ञान के डर से । ये सभी

उत्तम कर्म करने वाले हैं। इन सबमें मुझे वह ज्ञानी अति प्यारा है जो नित्य भक्ति में लगा है, जिसे मैं प्यारा हूँ। यद्यपि ये सभी उदार हैं, सभी ज्ञानी हैं, परन्तु जो ज्ञानी अन्तरआत्मा से लगा हुआ मेरी शरण है, जिसकी मैं ही गति हूँ, वह अत्यन्त प्यारा है। जो बहुत जन्म के अन्त में अन्तिम ज्ञान की अवस्था में वासुदेव ही सब कुछ है, वासुदेव के बिना कुछ नहीं है ऐसा जानता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।

॥ अ० ७ श्लो० १६-१७-१८-१९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।  
 तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥  
 यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्ध्यार्चितुमिच्छति ।  
 तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥  
 स तया श्रद्ध्या युक्तस्तस्याराधनमीहते ।  
 लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥  
 अन्तवत्तु फलं तेषां तद्वत्यत्प्रमेधसाम् ।  
 देवान्देवयजो यान्ति मद्दक्ता यान्ति मामपि ॥

जो विषयों की कामना में आसक्त हैं और ज्ञान से भ्रष्ट हैं वे अपने बनाये हुए नियमानुसार प्राकृत देवताओं को पूजते हैं। जो-जो सकामी भक्त जिस इच्छा से श्रद्धा पूर्वक पूजते हैं उनकी श्रद्धा और उनकी इच्छा भी मैं ही पूरी करता हूँ। मेरे द्वारा ही इच्छित भोगों को प्राप्त होते हैं, परन्तु वह भोग नाशवान हैं। देवताओं को पूजने वाले देवताओं को और मुझे पूजने वाले मुझे प्राप्त होते हैं।

॥ अ० ७ श्लो० २०-२१-२२-२३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।  
 परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुज्ञयम् ॥  
 नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।  
 मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥  
 वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।  
 भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कक्षन् ॥  
 इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।  
 सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥

बुद्धिमान मनुष्य मुझ अव्यक्त स्वरूप को अविनाशी भाव से प्रगट हुआ न जानकर व्यक्ति भाव से उत्पन्न हुआ मानते हैं । मैं योग माया से छिपा हुआ सबके जानने में नहीं आता हूँ, इसलिये मूढ़ लोग मुझे अविनाशी अजन्मा नहीं जानते । जो पहले हो चुके हैं, वर्तमान हैं और आगे होने वालों को भी मैं जानता हूँ परन्तु मुझे श्रद्धा, भक्ति रहित पुरुष नहीं जानता । हे भारत ! ईश्या और द्वेष से उत्पन्न हुये द्वन्द्व तथा मोह से सम्पूर्ण प्राणी अज्ञानता को प्राप्त हैं ।

॥ अ० ७ श्लो० २४-२५-२६-२७ ॥

येषां त्वन्तरं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।  
 ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढब्रताः ॥  
 जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।  
 ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥  
 साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।  
 प्रव्याणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

परन्तु कामनाओं को त्यागकर श्रेष्ठकर्म करने वाले राग और द्वेष; द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त पुरुष मुझे सब प्रकार से भजते हैं ।

जो मेरी शरण में रहकर बुढ़ापा और मृत्यु से बचने का प्रयत्न करते हैं वे सम्पूर्ण मर्म को, अध्यात्म को और ब्रह्म को जानते हैं। जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं वे अन्त समय अन्तरआत्मा से मुझे जानते हैं।

॥ अ० ७ श्लो० २८-२९-३० ॥

## अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उक्ताच

किं तदब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।  
 अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥  
 अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।  
 प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

अर्जुन के सात प्रश्न

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहा गया है ? और अधिदेव किसे कहा जाता है ? हे मधुसूदन ! अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीर में कैसे है ? युक्त चित्त वाले पुरुषों द्वारा अंत समय कैसे जाना जाता है ?

॥ अ० ८ श्लो० १-२ ॥

**भाव-** [ "अर्जुन ने यह सात प्रश्न दो श्लोकों में किये हैं जिनका उत्तर तीन श्लोकों में देकर भगवान् श्री कृष्ण ने दो श्लोकों में समाधान किया है । यह सात श्लोक ही सप्त श्लोकी भागवत् है । इनमें आत्मा का, पंच भूतात्माओं का और देवताओं का तथा व्यापक परमात्मा का अलग-अलग वर्णन किया गया है तथा शब्द ब्रह्म का इस शरीर में होना सगुण रूप से अपने को बताया है ।" ]

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।  
 भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।  
 अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥  
 अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।  
 यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यन्त्र संशयः ॥

श्री कृष्णद्वारा प्रश्नों का उत्तर

परम अक्षर ही ब्रह्म है, इन्द्रियों के गुणों व कर्मों को उत्पन्न ग्रहण करने वाला आत्मा ही अध्यात्म है, तथा गुण और कर्म के अतिरिक्त क्रियाओं से रहित जो स्वभाविक है वह कर्म है। उत्पत्ति और विनाश होने वाले पदार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अधिभूत हैं। इनसे उत्पन्न होने वाली इन्द्रियों की जो शक्तियां हैं वह अधिदैव हैं और इन सब में व्यापक आत्मा ही विष्णुरूप से मैं अधियज्ञ हूँ और अन्तकाल में मेरे उस विष्णुरूप को स्मरण करता हुआ जो शरीर त्यागकर जाता है वह निःसन्देह मुझे प्राप्त होता है।

॥ अ० ८ श्लो० ३-४-५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।  
 तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥  
 तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।  
 मर्यपर्तिमनोबुद्धिमर्पिवैष्यस्यसंशयम् ॥  
 अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।  
 परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

परन्तु सदा जिसका स्मरण करता है, शरीर त्यागते समय भी उसका ही स्मरण होता है। अतः सब समय में, सब अवस्थाओं में मेरा स्मरण करते हुये युद्ध कर। इस प्रकार मन बुद्धि मेरे में अर्पण करके निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

ध्यान के अभ्यासरूप योग से युक्त हुए चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ परम पुरुष परमात्मा को पाता है।

॥ अ० ८ शलो० ६-७-८ ॥

**भाव-** [ “सब समय में सब अवस्थाओं में निरन्तर उस शब्द ब्रह्म का ही स्मरण हो सकता है जिसको यज्ञ के वर्णन में यज्ञ में प्रत्यक्ष होना बताया है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है और न रचा गया है।” ]

कवि            पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्परेद्यः ।  
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥  
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।  
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥  
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।  
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

जो पुरुष सबके नियन्ता सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबको धारण करने वाला, अचिन्त्य स्वरूप सूर्य के सदृश प्रकाशरूप अन्धकार से अत्यन्त परे परमात्मा को स्मरण करता है। अन्तकाल में अचलमन से भक्तियुक्त योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को स्थिर करके स्मरण करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है। जिसमें ब्रह्मचारी योगीजन प्रयत्न करके प्रवेश करते हैं और वेद के ज्ञाता जिसे अक्षरब्रह्म-शब्दब्रह्म कहते हैं उस परमपद को संक्षेप से कहूँगा।

॥ अ० ८ शलो० ९-१०-११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।  
मूर्ध्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।  
 यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥  
 अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।  
 तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥  
 मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।  
 नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

इन्द्रियों को विषयों से रोककर मनको हृदय में निरोधकर अथवा प्राणोंको ब्रह्मरन्ध में स्थिर करके योगधारणा में निःचल मन से अउम से परे एक अक्षर ब्रह्म को व्यवहारिक रूप से स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परमगति पाता है । जो अन्यतरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर स्मरण करता है, उस योगी के लिये मैं सुलभ हूँ । मेरे को प्राप्त होकर दुःख के स्थान पुनर्जन्म को प्राप्त न होकर महात्मागण परमगति पाते हैं ।

॥ ३० ॥ शलो० १२-१३-१४-१५ ॥

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।  
 मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥  
 सहस्रयुगपर्यन्तमहर्वद्ब्रह्मणो विदुः ।  
 रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥  
 अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्यहरागमे ।  
 रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तवैवाव्यक्तसंज्ञके ॥  
 भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।  
 रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्यहरागमे ॥

ब्रह्मलोक से लेकर सबलोक पुनः लौटकर आनेवाली गति के हैं, परन्तु हे अर्जुन ! मेरे को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि ब्रह्मां का एक दिन एक हजार चौकड़ीयुग और रात भी

हजार चौकड़ीयुग तक अवधिवाला योगीजन जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि सभी भूतप्राणी ब्रह्मके सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और रात्रि में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्ण होने पर ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।

॥ अ० ८ श्लो० १६-१७-१८-१९ ॥

परस्तस्मात् भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।  
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥  
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।  
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्वाम परमं मम ॥  
पुरुषः स परः पार्थं भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।  
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन मर्वमिदं ततम् ॥

परन्तु उस अव्यक्त ब्रह्म के सूक्ष्म शरीर से भी परे अव्यक्त भाव सनातन ब्रह्म सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। वह अव्यक्त अक्षर ऐसा कहा जाता है वह शब्द परमगति है, जिसे प्राप्तकर जीव पीछे नहीं आते वह परम धाम है। जिस परमात्मा के अन्दर सर्वभूत हैं और सारा जगत परिपूर्ण है, वह अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है।

॥ अ० ८ श्लो० २०-२१-२२ ॥

**भाव—** [ "जो एक ईश्वर के सिवा दूसरे की भक्ति न करे और ईश्वर में तथा गुरु में एक ही भाव रखकर ध्यान-स्मरण सत्संग भजन योग यज्ञ जप तप आदि सभी कर्म एक परमेश्वर के लिए करता हो वह अनन्य भक्ति है। ज्ञान होने पर अलग-अलग भाव नहीं रहता।" ]

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।  
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।  
 तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥  
 धूपो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।  
 तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

जिस समय में शरीर त्यागकर गये योगीजन पीछे आने वाली और न आनेवाली गतिको प्राप्त होते हैं वह समय तुझे कहूँगा । जिस समय चान्दनी रात अर्थात् शुक्लपक्ष होता है वह उत्तरायण अग्निर्मय लोक और ब्रह्म ज्योतिर्मय लोक तथा परमधाम है । उस ब्रह्म लोक में ब्रह्म के जानने वाले योगीजन जाते हैं । जहाँ दक्षिण कृष्णपक्ष है वह धूम्र और रात्रि का स्थान है वहाँ योगी फल भोगने के बाद देवताओं द्वारा वापिस आता है ।

॥३० ८ श्लो० २३-२४-२५॥

"संसार और इस शरीर का भी दाहिना भाग पूर्व, बामभाग पश्चिम, ऊपर का भाग उत्तर और नीचे का भाग दक्षिण कहलाता है । अंतसमय प्राण जब ऊपर के मार्ग से निकलते हैं तो देवलोक को जाते हैं और जब नीचे के मार्ग से निकलते हैं तब जीवात्मा के साथ प्राण नरक में जाते हैं ।"

शुक्लकृष्णे गती होते जगतः शाश्वते मते ।  
 एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥  
 नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुहृति कश्चन ।  
 तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।  
 अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

शुक्ल और कृष्ण ये दो पक्ष, पितृयान—नरक और देवयान—स्वर्ग के सनातन मार्ग माने गये हैं । एक में गया वापिस

आता है और एक में गया वापिस नहीं आता है अर्थात् परमगति पाता है। इन दोनों मार्गों को तत्व से जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता। अतः हे अर्जुन ! तू सब समय में, सब काल में योग युक्त हो। क्योंकि योगी पुरुष इस रहस्य को जानकर वेद, यज्ञ, तप दान और पूण्य के फल को लाँघ जाता है और सनातन परमपद को पाता है।

॥ अ० ८ शलो० २६-२७-२८ ॥

**भाव—** [ “यह देवयान और पितृयान दो स्वर्ग और नरक हैं क्योंकि पुराणों में भी पितृ आदि कर्मों का फल नरक में ही भोगने के लिए बताया है। पिण्ड आदि भी नरक की वैतरनी में ही भोगे जाते हैं, जिनके पितृ नरक में नहीं जाते और मुक्त हो जाते हैं उनके लिए पिण्ड भी नहीं लगता।” ]

## अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।  
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ञात्वा मोक्षसेऽशुभात् ॥  
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।  
प्रत्यक्षावगमं धर्म्य सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥  
अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।  
अप्राप्य मां निर्वर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

श्रीभगवानुवाच

हे अर्जुन ! तुझ दोष दृष्टि रहित भक्त के लिए यह ज्ञान विज्ञान सहित कहुँगा जिसे जानकर मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का तथा गोपनियों का राजा, एवं पवित्र है, उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करने में सुगम और अविनाशी है; किन्तु श्रद्धारहित पुरुष मुझे न प्राप्त हो कर मृत्युरूप संसार चक्र में ही वर्तता है।

॥ अ० ९ श्लो० १-२-३ ॥

**भाव-** [“प्रेमसहित सत्कर्म करने की तीव्र इच्छा को श्रद्धा कहते हैं। जो सत्कर्म सत्त्वाम-परमात्मा के लिए सत्त्वामाओं से सत्पुरुषों द्वारा सात्त्विक वृत्तियों से आत्म-शान्ति के लिए किया जाय वह श्राद्ध है।”]

मया तत्मिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।  
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।  
 भूतभृत्र च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥  
 यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।  
 तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

यह सारा जगत् मुझमें अव्यक्त भूतिमान सर्वभूत संकल्प के आधार पर स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ । और वे सर्वभूत मेरे में स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरे प्रभाव को देख ! कि भूतों को धारण करने वाला मेरा आत्मा, भूतों में नहीं है । जिस प्रकार आकाश में स्थित महान् वायु सर्वत्र विचरता है, वैसे ही मेरी आत्मा ने सम्पूर्ण भूतों को धारण किया हुआ है ।

॥ अ० ९ श्लो० ४-५-६ ॥

**भाव—** [ "विश्वपति, परमपिता-परमात्मा सारे विश्व में प्राण लेने और देने में है । जो भक्त अपने प्राणों सहित आत्मा को परमात्मा में अर्पण करता है, उसमें परमात्मा प्राणों की समान अवस्था में है, अन्यथा होते हुए भी नहीं है ।" ]

सर्वभूतानि ऋौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।  
 कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥  
 प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।  
 भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥  
 न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।  
 उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

हे अर्जुन ! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में लय होते हैं और कल्प के आदि में रचे जाते हैं । प्रकृति के वश से उनको कर्मानुसार बार-बार रचता हूँ । हे धनंजय ! उन कर्मों में आसक्ति

रहित रचना करते हुये को उदासीनता के सदृश मुझे कर्म नहीं बाँधते हैं।

॥ अ० ९ श्लो० ७-८-९ ॥

**भाव—** [ “माता के गर्भ में आत्मा ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर द्वारा प्रवेश करती है और गर्भ धारण करती है। जिस प्रकार निद्रा काल में ब्रह्मा के साथ, स्वप्न में मन के साथ, जागृत में इन्द्रियों के साथ रहती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मा की सृष्टि के अन्त में भी आत्मा प्रकृति में लीन रहती है। तब वह प्रकृति दूसरे ब्रह्मा के लिए और इन जीवों की आत्मा के लिए विश्व की रचना करती है।” ]

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सच्चराच्चरम् ।  
 हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥  
 अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।  
 परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥  
 मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।  
 राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाता की प्रकृति चर-अचर सम्पूर्ण जगत् को रचती है, भिन्न-भिन्न कारणों से यह विश्व बदलता है। परन्तु मूढ़जन मुझे साधारण मनुष्य जानते हैं, भूतों के महान् ईश्वर रूप मेरे परमभाव को नहीं जानते। वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञान वाले अज्ञानी जन राक्षसी, आसुरी, तामसी स्वभाव को धारण किये हैं।

॥ अ० ९ श्लो० १०-११-१२ ॥

**भाव—** [ “विश्व रचना में पैदा, पालन और उद्धार कार्य के लिए प्रकृति ब्रह्मा, विष्णु, शिव को रचती है, अथवा उत्पन्न

करती है। गर्भ में भी जीव की चार अवस्था होती हैं, सुसुप्ति में ब्रह्मा के साथ शरीर की रचना और विष्णु के साथ इन्द्रियों की रचना स्वप्न में होती है और जाग्रति में जीव को गर्भ की यम यातना भोगनी पड़ती है, जीव जब तुरिया अवस्था में परमेश्वर का ध्यान करता है तब शिव के साथ गर्भ से बाहर आता है।”]

महात्मानस्तु मां पार्थौ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।  
 भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥  
 सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढब्रताः ।  
 नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥  
 ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।  
 एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

हे पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित हुए महात्माजन तो मुझे सब भूतों का आदि अविनाशी जानकर एक ही भाव से भजते हैं। मेरे भक्त मेरी कीर्ति (गुणों) को गाते हुए, सदा प्रणाम करते हुये, अन्तर आत्मा से वर्त धारण किये भक्ति में लीन हो कर उपासते हैं। कोई तो ज्ञान यज्ञ से, कोई अन्य सुमिरण—ध्यान आदि यज्ञों द्वारा, कोई एक ही भाव से, कोई बहुत प्रकार से भी उपासते हैं।

॥ ३० ९ श्लो० १३-१४-१५ ॥

**भाव—** [“परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर ध्यान स्मरण करता हुआ जो सगुण ब्रह्म परमेश्वर को सर्वभूत प्राणियों की आत्मा का परमात्मा अथवा देवों का भी आदिदेव जानकर सेवा भक्ति करता है, वही एक भाव से परमात्मा को प्राप्त हो कर परमगति पाता है। अन्यथा नहीं।”]

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।  
 मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हृतम् ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।  
 वेद्यं पवित्रमोक्तारं ऋक्साम् यजुरेव च ॥  
 गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।  
 प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥  
 तपाप्यहमहं वर्षं निगृहणाम्युत्सृजामि च ।  
 अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

यज्ञ को उत्पन्न करने वाला मंत्र (शब्द) मैं ही हूँ, ब्रह्म ज्योति-अग्नि एवं उसमें हवन करने की सामग्री, अन्य औषध तथा प्राण भी मैं ही हूँ । मैं ही जगत् को धारण करने वाला माता-पिता और पितामह हूँ और जानने योग्य पवित्र शब्द हूँ । प्राप्त होने योग्य प्रभु सबका साक्षी, शरण, उत्पत्ति और प्रलय का वासस्थान निधान अविनाशी बीज मैं ही हूँ । मैं ही तपता हूँ, मैं ही वर्षा को आकर्षण करता हूँ । हे अर्जुन ! अमृत और मृत्यु, सत्य और असत्य भी मैं ही हूँ ।

॥ अ० ९ श्लो० १६-१७-१८-१९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।  
 ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्रन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥  
 ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।  
 एवं त्रयीर्धर्ममनुप्रपत्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

वेद में वर्णित सकामकर्म करने वाले स्वर्ग की इच्छा से इन्द्रलोक में दिव्य भोगों को भोगते हैं और स्वर्ग के सुख को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर गुण कर्मानुसार कामनावश आनेजाने में भटकते रहते हैं ।

॥ अ० ९ श्लो० २०-२१ ॥

**भाव—** [ “परमात्मा का ज्ञान होने पर भी जो सगुणब्रह्म को

नहीं जानता, सेवा-पूजा नहीं करता वह भजन, ध्यानरूपी सत्‌कर्म अर्थात् पुण्य कर्मों के अनुसार देवलोक के सुख को भोगता है या जो दूसरों की आत्मा के लिए या सुख की कामना से भजन करता है। बिना ज्ञान के किये गये वेद वर्णित सकाम कर्म भी तामसिक हैं। अतः उनका फल भोगने के लिये मृत्युलोक अर्थात् नरक में ही आना पड़ता है।” ]

अनन्याश्चिन्तयन्ते मां ये जनाः पर्युपासते ।  
 तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥  
 येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।  
 तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥  
 अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।  
 न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

जो अनन्य भक्त मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हैं उन भक्तों को सिद्ध मैं स्वयं कर देता हूँ। यद्यपि श्रद्धा से युक्त हुये सकामी भक्त देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझे ही पूजते हैं, किन्तु वह पूजन अविधि पूर्वक है; क्योंकि सम्पर्ण यज्ञों का भोक्ता स्वामी मैं हूँ, परन्तु वे मुझे तत्व से नहीं जानते हैं; इसलिये पुनर्जन्म पाते हैं।

॥ अ० ९ श्लो० २२-२३-२४ ॥

**भाव-** [ “यह नियम है कि जो दूसरों का भला चाहता है भगवान् भी उसका भला चाहता है। जो स्वयं भजन करता है और भगवान् के गुणानुवाद गाकर सत्संग द्वारा दूसरों को भगवान् की भक्ति में लगाता है भगवान् उसे भक्ति स्वयं देते हैं। ]

यान्ति देवब्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृब्रताः ।  
 भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।  
 तदहं भक्त्युपहतमशनामि प्रयतात्मनः ॥  
 यत्करोषि यदश्नासि यजुहोषि ददासि यत् ।  
 यत्परस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मर्दर्पणम् ॥

इसलिये देवताओं के भक्त देवताओं को, पितरों के पितरों को और भूतों के भूतों को प्राप्त होकर जन्मते मरते हैं; और मेरा भक्त मुझे प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है। मेरी भक्ति की यह भी विशेषता है कि जो भक्त प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल आदि जो भी मुझे अर्पण करता है, उसे मैं सगुण रूपसे ग्रहण करता हूँ। जो कुछ तू करता है, खाता है, ग्रहण करता है, दान देता है, परिश्रम आदि सभी कर्म मेरे अर्पण कर।

॥ ॐ ९ श्लो० २५-२६-२७ ॥

भाव— [ “देवताओं की पूजा से मुक्ति नहीं होती, कारण कि अज्ञानी जन ही अपने बनाये हुये देवताओं की पूजा करते हैं। वास्तविक देवताओं की पूजा बिना ज्ञान के हो नहीं सकती और पूरण ब्रह्म सद्गुरुदेव की पूजा से ही सारे देवता प्रसन्न होते हैं।” ]

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।  
 संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥  
 समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।  
 ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥  
 अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।  
 साधुरेव स मन्त्रव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥  
 क्षिं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।  
 कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

इस प्रकार सन्यासयोग से युक्त हुआ तू शुभाशुभ कर्म बन्धन से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त होगा । यद्यपि मैं सब भूतों में समान भाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा मित्र है, न बैरी, परन्तु जो मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें और मैं उनमें प्रगट हूँ । यदि कोई दुराचारी भी मुझे अनन्य भाव से भजता है, जिसकी दृष्टि में भजन ही सार है तो वह साधु ही है, वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर सदा शान्ति पाता है । हे अर्जुन ! मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।

॥ अ० ९ इलो० २८-२९-३०-३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।  
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥  
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।  
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥  
मन्यना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।  
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

हे पार्थ ! मेरी शरण होकर तो स्त्री, वैश्य आदि नीच योनि तथा शूद्र—सभी परम गति पाते हैं; तो पुण्यवान ब्राह्मण राजऋषि भक्तजन का कहना ही क्या है । तू सुख पूर्वक भजन कर, तू मुझमें मन लगा, भक्ति कर, प्रणाम कर, मेरे में लगे चित्त से आत्म-परायण हो ।

॥ अ० ९ इलो० ३२-३३-३४ ॥

**भाव—** [ "बड़े-बड़े विद्वान् इस बात से बड़े भ्रमित हैं कि जिस प्रभु के ज्ञान को बड़े-बड़े ऋषि भी नहीं जान सके, बड़े-बड़े योगी और सन्यासी योग और ज्ञान के ही चक्कर में यह नहीं समझ सके कि कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? फिर ये नीच योनि वाले पापी लोग कैसे तर जाते हैं ? ]

## अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।  
 वत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥  
 न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।  
 अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥  
 यो मामजमनादिं च वेति लोकमहेश्वरम् ।  
 असंमूढः स मत्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

हे महाबाहो ! तुझ प्रेमी के लिये मैं परम हितकारी वचन कहता हूँ सुन ! मेरे प्रभाव को न देवता ही जानते हैं, न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं इन सबका आदि कारण हूँ। जो मुझे अनादि अजन्मा सर्व लोकों का ईश्वर जानता है वह तत्त्व-ज्ञानी सब पापों से मुक्त हो जाता है ।

॥ अ० १० श्लोक १-२-३ ॥

**भाव—** [“भगवान् की लीलाओं को देवता और ऋषि तो क्या जानेंगे ? बड़े-बड़े ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं। सर्व कामनाओं को जीतने वाला निरन्तर जो सेवा-भक्ति में लगा रहता है वह भले ही भगवान् के प्रभाव को जानता हो । ]

बुद्धिज्ञनिमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।  
 सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥  
 अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।  
 भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

महर्षयः सप्त पूर्व चत्वारो मनवस्तथा ।  
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

निश्चय करने की बुद्धि, ज्ञान, विवेक, क्षमा, सत्य, सम-दम तथा सुख-दुख और जीवन-मरण, भय और अभय । समता, संतोष, अहिंसा, तप-दान, कीर्ति-अपकीर्ति यह सब मेरे से ही उत्पन्न होते हैं । सात महर्षिगण और चार उनसे भी पहले होने वाले संत आदि तथा स्वयंभु आदि चौदह मनु मेरे भाव से उत्पन्न हुये जान; जिनकी यह सम्पूर्ण प्रजा है ।

॥ अ० १० श्लोक ४-५-६ ॥

**भाव-** [ "मेरे भाव का अर्थ— उस अविनाशी स्वरूप से है जो सर्वव्यापक है, जिसे शब्द-ब्रह्म भी कहते हैं । उस सगुण ब्रह्म को ही स्वरूप माना जाता है । भगवान् को ही गुरु का साक्षात् स्वरूप जानना चाहिये । इसमें संशय नहीं करना चाहिये । अतः सगुण ब्रह्म और परम-ब्रह्म तथा सद्गुरु में भेद नहीं समझना चाहिये इसीलिये ऐसा कहा है ।" ]

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेति तत्त्वतः ।  
सोऽविकम्येन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥  
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।  
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥  
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।  
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

जो तत्व से इस विभूतियोग और शक्ति को जानता है वह मुझे ध्यानयोग द्वारा पूजता है; इसमें संशय नहीं है । मैं सम्पूर्ण जगत की उत्पत्तिका कारण हूँ, सबमें मेरी ही चेतन्यता है, इस भाव से बुद्धिमान भक्त मुझे निरन्तर भजते हैं । मुझमें मन और

प्राण लगाकर जो आपस में गुणगान गाते हैं; वे सन्तुष्ट होकर मुझमें रमण करते हैं।

॥ अ० १० श्लोक ७-८-९ ॥

**भाव-** [ "आजतक जितने भी तत्वज्ञानी महाऋषि संतमहात्मा हुये हैं या जितने भी महापुरुष हुये हैं सभी ने सद्गुरु को और परमेश्वर को एक ही जानकर महिमा गाई है और परमब्रह्म को ही सद्गुरु का स्वरूप बताया है।" जिसे जाने बिना उसकी कृपा नहीं होती। ]

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।  
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥  
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।  
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

प्रेम सहित मेरे ध्यान में लगे भक्तों को तत्व-ज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं। उन्हीं पर अनुग्रह करने के लिये स्वयं ही ज्ञान दीपक द्वारा उनके अन्धकार को नष्ट करता हूँ।

॥ अ० १० श्लोक १०-११ ॥

अर्जुन उवाच  
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।  
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥  
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।  
असितो दैवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥  
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।  
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥  
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।  
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥

## अर्जुन बोला

हे भगवन् ! आप परमब्रह्म, परमपवित्र-धाम,  
परमपुरुष-सनातन, देवादिदेव-अजन्मा और सर्वव्यापक हैं। जैसा  
आप कहते हैं ऐसा ही देवऋषि नारद, असित, देवल और व्यास भी  
कहते हैं। हे केशव ! यह सब कुछ मैं सत्य मानता हूँ, आपको  
दानव और देव भी नहीं जानते। हे पुरुषोत्तम ! आप ही आपको  
जानते और जनाते हो। ॥ अ० १० श्लोक १२-१३-१४-१५ ॥

वकुमहंस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।  
याभिर्विभूतिभिलोकानिमांस्त्वं व्याप्त तिष्ठसि ॥  
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिच्छिन्नयन् ।  
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥  
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।  
भूयः कथय त्रिप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

आप ही अपनी विभूतियों को सम्पर्णता से कह सकते हैं और  
आप ही विभूतियों सहित सर्व लोकों में व्याप्त हैं। मैं निरंतर  
चिन्तन करता हुआ कैसे जानूँ। हे भगवान् ! आप किन-किन भावों  
से चिन्तन करने योग्य हैं। आप योग शक्ति को परम ऐश्वर्य रूप  
विभूति को फिर कहिये, आपके अमृतमय वचनों को सुनकर तृप्त  
नहीं हो रहा हूँ।

॥ अ० १० श्लोक १६-१७-१८ ॥

**भाव—** [“अर्जुन के भय और शोक को दूर करने के लिये  
भगवान् श्री कृष्ण ने अपना प्रभाव संकोच सहित वर्णन किया।  
किन्तु अर्जुन का बढ़ा हुआ प्रेम देख कर तथा अपने वचनों में श्रद्धा  
विश्वास देखकर विभूतियों का तथा अपने आदि स्वरूप का वर्णन  
फिर करते हैं।”]

श्रीभगवानुवाच

हन्ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।  
 प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥  
 अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।  
 अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥  
 आदित्यानामहं विष्णुज्योतिषां रविरंशुमान् ।  
 मरीचिर्मस्तामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥  
 वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।  
 इन्द्रियाणां पनश्चात्म्य भूतानामस्मि चेतना ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

भगवान् श्री कृष्ण द्वारा विभूति योग वर्णन  
 हे अर्जुन ! मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है, मैं तेरे लिए  
 प्रधानता से कहूँगा । मैं सर्व भूतों का अन्तरात्मा हूँ, सबकी आत्मा  
 में स्थित हूँ, सबका आदि अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ । मैं अदिति  
 के बारह पुत्रों में विष्णु और सूर्यों में किरणों वाला अंशुमान् (सूर्य),  
 वायु के उनचास देवताओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ । मैं  
 वेदों में सामवेद, देवों में वासुदेव, इन्द्रियों में काम-शक्ति और भूत  
 प्राणियों में चेतना हूँ ।

॥ अ० १० श्लोक १९-२०-२१-२२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।  
 वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥  
 पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।  
 सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥  
 महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्येकमक्षरम् ।  
 यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।  
गच्छर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

मैं ग्यारह रुद्रों में शंकर, धन में दक्षों का स्वामी कुबेर और आठ वसुओं में, अग्नि तथा शिखाओं में मेरु हूँ। हे पार्थ ! पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिक, जलाशयों में महासागर, महर्षियों में भृगु, वाणियों में एकाक्षर (ब्रह्म), यज्ञों में जप यज्ञ (शब्द ब्रह्म), स्थावरों में हिमालय हूँ। वृक्षों में अस्वस्थ-कल्पवृक्ष, देवर्षियों में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल हूँ।

॥ अ० १० श्लोक २३-२४-२५-२६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि मामपृतोद्भवम् ।  
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥  
आयुधानामहं वत्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।  
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥  
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।  
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

हे अर्जुन ! तू मझे अमृत से उत्पन्न हुआ उच्चैश्रवा घोड़ा जान और हाथियों में ऐरावत तथा मनुष्यों में राजा। शस्त्रों में बज्र, धेनुओं में कामधेनु, और जन्म देने में कामशक्ति। सर्पों में वाशुकि, नागों में अनन्त शेषनाग, जल का स्वामी वरुण और पितरों में अर्यमा नामक पितर तथा शासन करने वालों में यमराज मैं ही हूँ।

॥ अ० १० श्लोक २७-२८-२९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।  
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।  
 झंषाणां मकरश्चास्मि स्नोतसामस्मि जाह्वी ॥  
 सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।  
 अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

दैत्यों में प्रह्लाद, समय में काल और पशुओं में सिंह तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ । पवित्र करने वालों में वायु, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर, नदियों में गंगा हूँ । हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि-अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ । विद्याओं में अध्यात्म विद्या, वाद में विद्वता मैं ही हूँ ।

॥ अ० १० श्लोक ३०-३१-३२ ॥

**भाव-** [ “प्रह्लाद ने दैत्यकुल में जन्म लिया था, यदि वह भक्ति न करता तो भगवान् कभी न कहते कि मैं प्रह्लाद हूँ । परन्तु प्रह्लाद ने भक्ति के बल पर भगवान् को अपना बना लिया ।” ]

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।  
 अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥  
 मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्धवश्च भविष्यताम् ।  
 कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां सृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥  
 बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।  
 मासानां मार्गशीर्पोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

मैं अक्षरों में अकार हूँ, द्वन्द्वों में समझौता और कालों में अविनाशी महाकाल हूँ, सारे विश्व का विधाता हूँ । सबको हरण करने वाला मृत्यु और उत्पन्न करने वाला भविष्य तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ तथा गायन में वृहद साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में बसन्त ऋतु मैं हूँ ।

॥ अ० १० श्लोक ३३-३४-३५ ॥

**भाव—** [ “मन इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली वस्तुयें तथा जिनकी मन इन्द्रियों तक ही पहुँच है वे जीव के लक्षण हैं और जो आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित शक्तियाँ हैं वे भगवान् के ही स्वरूप हैं।” ]

द्यूतं छलयतामस्मि तेजरतेजस्विनामहम् ।  
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥  
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।  
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥  
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।  
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

मैं तेजस्वियों का तेज और छल करने वालों में चतुरता हूँ, व्यवसाय में जीत (लाभ) हूँ, मैं सत्त्वादियों में सत् हूँ। वृष्णियों में वासुदेव हूँ, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में वेदव्यास, कवियों में शक्राचार्य कवि हूँ, दमन में दण्ड, जीतने में नीति, गुप्त भावों में मौन और ज्ञानियों में ज्ञान हूँ। ॥ ३० १० श्लोक ३६-३७-३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहर्जुन ।  
न तदस्ति विना यत्यान्मया भूतं चराचरम् ॥  
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।  
एष तूदेशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥  
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमद्भूर्जितमेव वा ।  
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥  
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।  
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

और हे अर्जुन ! सर्वभूतों को उत्पन्न करने का बीज भी मैं ही हूँ; क्योंकि मेरे बिना चर-अचर किसी भी भूत का अस्तित्व नहीं

है। हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार संक्षेप से कहा है। जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त वस्तु हैं वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान। हे अर्जुन ! बहुत जानने से भी तेरा क्या प्रयोजन है ? मैं इस सारे जगत को योग माया के अंश से धारण करके स्थित हूँ।

॥ अ० १० श्लोक ३९-४०-४१-४२ ॥

**भाव-** “जीवात्मा का कर्म करने में ही अधिकार है फल की प्राप्ति में नहीं और जब अपने ही किये कर्मों का फल जीव स्वयं नहीं भोग सकता तो ज्ञान स्वयं कैसे प्राप्त कर सकता है ? इसलिये जो भी प्राप्त होने वाली अच्छी बुरी वस्तु हैं, सब परमात्मा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं।”]

## अथ एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।  
 यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥  
 भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।  
 त्वतः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥  
 एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।  
 द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥  
 मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।  
 योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

अर्जुन बोला

हे भगवन् ! मेरे पर अनुग्रह करने के लिये परम गोपनीय अध्यात्म ज्ञान का रहस्य कहा उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है । हे कमलनेत्र ! मैंने भूतों की उत्पत्ति-प्रलय और आपका अविनाशी प्रभाव सुना है । हे परमेश्वर ! आपके ज्ञान-ऐश्वर्य शक्तिबल तेजयुक्त रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ । हे पुरुषोत्तम ! मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जा सकता है ऐसा आप यदि मानते हैं तो हे योगेश्वर ! मुझे अपने अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराइये ।

॥ अ० ११ श्लोक १-२-३-४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।  
 नानाविधानि दिव्यानि नानावरणाकृतीनि च ॥  
 पश्यादित्यान्वसूर्सूरद्रानश्चिनौ मरुतस्तथा ।  
 बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्रयाणि भारत ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्त्वं पश्याद्य सचराचरम् ।  
 मम देहे गुडाकेश\* यच्चान्यदद्वृष्टमिच्छसि ॥  
 न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।  
 दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

श्री कृष्ण भगवान बोले

हे पार्थ ! मेरे सैंकड़ों हजारों नाना प्रकार के नाना वर्ण तथा प्रकृति वाले दिव्यरूपों को देख । हे भारत ! मुझमें भ्राताओं सहित विष्णु को, आठ वसुओं को, ग्यारह रुद्रों को, अश्विनी कुमारों को तथा मरुदगणों को देख ! मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुये चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देख । हे अर्जुन ! और भी जो देखना चाहता है देख ! परन्तु मुझे तू अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा नहीं देख सकता, मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ, उससे तू योग-ऐश्वर्य रूप को देख ।

॥ अ० ११ श्लोक ५-६-७-८ ॥

### संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।  
 दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥  
 अनेकवक्त्रनयनपनेकाद्वृतदर्शनम् ।  
 अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥  
 दिव्यमाल्याभरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।  
 सर्वाश्र्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

### संजय बोला

हे राजन् ! योगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर अर्जुन को परम ऐश्वर्यरूप दिखाया और उस अनेक नेत्रों, मुख तथा अद्भुत दर्शनों वाले एवं बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त, दिव्य शस्त्रों को

हाथों में उठाये हुये, दिव्यमाला, वस्त्र धारण किये हुये, दिव्य गंध का लेपन किये, आश्चर्यमय परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा ।

॥ अ० ११ श्लोक ९-१०-११ ॥

**भाव—** [ "यह भगवान् ने अपना प्रभावमय स्वरूप दिव्य विभूतियों सहित दर्शाया इसके उपरान्त दिव्य दृष्टि द्वारा-ज्ञानयोग द्वारा प्राप्त होने वाला स्वरूप दिखाया ।" ]

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।  
 यदि भा: सदृशी सा स्याद्वासस्तस्य महात्मनः ॥  
 तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।  
 अपश्यद्वेवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥  
 ततः स विस्मयाविष्टो हष्ट्रोमा धनंजयः ।  
 प्रणाम्य शिरसा देवं कृताञ्चलिरभाषतः ।

हे राजन् ! हजारों सूर्यों का प्रकाश भी उस प्रकाश को प्रकाशित नहीं कर सकता जो अर्जुन ने देखा । पाण्डवपुत्र अर्जुन ने उस समय पृथक्-पृथक् हुए सम्पूर्ण जगत् को देवों के देव भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में देखा । तब अर्जुन आश्चर्य से रोमांच होकर सिर से प्रणाम करते हुए हाथ जोड़ कर बोला—

॥ अ० ११ श्लोक १२-१३-१४ ॥

**भाव—** [ "सारा विश्व उस परमेश्वर की प्रकृति द्वारा उत्पन्न होने के कारण परमेश्वर में गूँथा हुआ है । जिसको अर्जुन ने तत्त्व ज्ञान से अपने अन्दर देखा ।" ]

अर्जुन उवाच  
 पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।  
 ब्रह्माणामीशं कमलासनस्थमृषीशं सर्वानुरगांशं दिव्यान् ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।  
 नान्तं न मध्यं न पुनस्त्वादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥  
 किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।  
 पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तादीप्तानलार्कहृतिमप्रमेयम् ॥

### अर्जुन बोला

हे देव ! आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को, भूतों को और कमलासन पर बैठे ब्रह्मा को, महादेव को, सम्पूर्ण ऋषियों को, दिव्य सर्पों को देखता हूँ । आपको अनेक हाथ, पैर, मुख, नेत्रयुक्त अनेकों रूपों वाला देखता हूँ । हे विश्व रूप ! आपके न अन्त को, न मध्य को और न आदि को ही देखता हूँ । हे विष्णु ! आपको मैं मुकुट युक्त, गदा युक्त और चक्रयुक्त ज्योतिर्मय दिव्य चमकता हुआ देखता हूँ ।

॥ अ० ११ श्लोक १५-१६-१७ ॥

**भाव—** [“योगी को जब भगवान् की कृपा से ऐसा रूप दिखाई देता है, तो अपने हृदय में सुदर्शनचक्र, मुकुट सहित भगवान् के दर्शन करता है, शंख की ध्वनि सुनता है और पद्म पराग रूपी अमृत को पीता है तथा नाम रूपी गदा से मृत्यु को भी जीत लेता है।”]

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
 त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥  
 अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।  
 पश्यामि त्वां दीप्तहृताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥  
 द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।  
 दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्ग्रीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।  
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

हे पुरुषोत्तम ! आप जानने योग्य परम अक्षर, विश्व के परम निधान, अनादि, अविनाशी, धर्म, सनातन पुरुष हैं । मैं आपको आदि अन्त और मध्य से रहित सामर्थ्य युक्त अनन्त भुजा और सूर्य-चन्द्र नेत्र वाला तेज युक्त मुख से संसार को तपाने वाला देख रहा हूँ । सर्व दिशाओं में व्याप्त अद्भुत उग्र रूप को देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हैं । सब देवता आप में ही प्रवेश करते हैं और कोई भयभीत होकर सिद्ध महर्षियों के संग आपकी मंगलमय स्तुति गाते हैं ।

॥ ३० ११ इलोक १८-१९-२०-२१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्पाश्च ।  
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥  
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरूपादम् ।  
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥  
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।  
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिनविन्दामि शमं च विष्णो ॥  
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।  
दिष्णो न जाने न लभे च शर्मं प्रसीद देवेश जगन्निनाम ॥

रुद्र, आदित्य-वसु, विश्व के साध्यदेव-अश्विनि कुमार, पितृ गन्धर्व, यज्ञ, सिद्ध सब विस्मित हुए हैं । हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख, नेत्र, हाथ, जंघा, पैर, पेट, दाढ़ों वाले विकराल रूप को देख कर सब लोक व्याकुल हैं और मैं भी चकित हूँ । हे विष्णो ! आकाश से स्पर्श किये हुये प्रकाशवान विशाल नेत्रसे युक्त आपको देखकर मैं शान्ति को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ । आपके विकराल मुख

को देखकर सुख को और दिशाओं को भूल गया हूँ, हे देव ! हे जगन्निवास प्रसन्न होइये ।

॥ अ० ११ श्लोक २२-२३-२४-२५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रसं पुत्राः सबे सहैवावनिपालसङ्घैः ।  
 भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥  
 वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्रकरालानि भयानकानि ।  
 केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥  
 यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।  
 तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥  
 यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतझ्ना विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।  
 तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं सहित तथा भीष्मपितामह द्रोणाचार्य, कर्ण और हमारे पक्ष के भी सब आपके विकराल दाढ़ों वाले मुख में प्रवेश कर रहे हैं और कितने ही चूर्ण हुये दांतों में लगे दीखते हैं । जैसे नदियां समुद्र में, पतंगे अग्नि में प्रवेश करते हैं वैसे ही यह सब अपने नाश के लिये आपके मुखमें प्रवेश करते हैं ।

॥ अ० ११ श्लोक २६-२७-२८-२९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वर्लङ्घिः ।  
 तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥  
 आख्याहि मे को भवानुग्रहूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।  
 विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकों को पकड़कर चाट रहे हो, हे विष्णो ! आपका उग्ररूप सम्पूर्ण जगत् को तपायमान करता है । कृपया कहिये आप कौन हैं ? आपको प्रणाम है । मैं आपको तत्व से जानना

चाहता हूँ। हे देवेश ! मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता ।

॥ ३० ११ श्लोक ३०-३१ ॥

### श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकानसमाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।  
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥  
तस्मात्त्वमुन्तिष्ठयशोलभस्व जित्वा शत्रून् भुद्ध्वराज्यं समृद्धम् ।  
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥  
द्वोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।  
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

### भगवान् श्री कृष्ण बोले

मैं लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूँ, लोकों को नष्ट करने के लिए ही बढ़ा हूँ। ये सभी योधा तेरे युद्ध किये बिना ही मरे हैं, इससे तूं खड़ा हो, यश प्राप्त कर। शत्रुओं को जीत कर धन धान्य सम्पन्न राज्यकर, यह पहले ही मरे हैं तूं तो केवल निमित्त मात्र है। द्रोणाचार्य, भीष्म-पितामह, जयद्रथ और कर्ण आदि मरे हुये इन योधाओं को मार, भय मत कर, तूं जीतेगा ।

॥ ३० ११ श्लोक ३२-३३-३४ ॥

### संजय उवाच

एतच्छुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।  
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगदगदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

### संजय बोला

हे राजन् ! ऐसा सुनकर मुकट धारी अर्जुन-हाथजोड़े हुये, काँपता हुआ, प्रणाम करके, भगवान् श्री कृष्ण के प्रति गद-गद वाणी से बोला ।

॥ ३० ११ श्लोक ३५ ॥

**भाव—** "इसीलिये भगवान् और भगवान् के भक्तोंकी गाथा अमर है। किस प्रकार भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन को अपना तेजोमय स्वरूप दिखाकर उसके भरम को दूर करके सम्पूर्ण सहारा देकर अभय किया। इतना सहारा पाकर जीव अकर्ता होकर भी क्या नहीं कर सकता? क्योंकि करने कराने वाला तो हरि है।"]

### अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्रहृष्टत्यनुरज्यते च ।  
 रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवत्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥  
 कस्माच्च ते न नमेरन्यहात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।  
 अनन्त देवेश जगत्रिवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥  
 त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
 वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम न्यया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

### अर्जुन बोला

हे अन्तर्यामिन् ! आपके नाम के प्रभाव और गुणों को गाकर जगत् हर्षित हो रहा है और राक्षस भयभीत होकर दिशाओं को भागते हैं, सब सिद्धगण प्रणाम करते हैं; क्योंकि आप ब्रह्मा के भी उत्पन्न करने वाले पिता हैं। हे ईश्वरों के ईश्वर ! आप सत् और असत् से न्यारे अक्षरब्रह्म हैं। जगत् के परम आश्रय जानने योग्य परमधाम हैं, आपसे जगत् परिपूर्ण है ।

॥ अ० ११ श्लोक ३६-३७-३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।  
 नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥  
 नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वं ।  
 अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

आप वायु, यम, अरिन, वरुण, चन्द्र आदि तथा ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता विश्वपति हैं। आपको लाखों बार प्रणाम है। पराक्रमशाली आप सब संसार को व्याप्त किये हैं, आप सर्वस्व हैं।

॥ अ० ११ शलोक ३९-४० ॥

रुचं ब्रह्म जन्यन्तो देवा अग्रे तदबुवन ।  
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्या तस्य देवा असन्नवशे ॥

(यजुर्वेद अ० ३१ मंत्र २१)

परमेश्वर ने सृष्टि रचनाहेतु ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उससे पहले प्रगट होकर "भगवान् हंस" ने ब्रह्मा को ज्ञान दिया उस ज्ञान के द्वारा ही सब देव उसकी उपासना करते हैं। सभी देव उसके वश में हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।  
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥  
यच्चावहासार्थपस्त्कृतोऽसि विहारशश्यासनभोजनेषु ।  
एकोऽथवाप्यच्युतं तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥  
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गीरीयान् ।  
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥  
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।  
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोऽमृ ॥

### अर्जुन की बन्दना

सखा मानकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुये प्रेम से अथवा हंसी से हे कृष्ण !, हे यादव !, हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ कहा गया है। हंसी से—विहार, सश्या, भोजन आदि के समय, अकेले सखाओं सहित अपमानित किये गये हैं; वह सब अपराध

क्षमा चाहता हूं। आप विश्व के पिता, गुरु से बढ़कर गुरु, पूजनीय हैं। आपके समान प्रभावशाली इन लोकों में कोई नहीं है ! हे प्रभो ! मैं शरीर को अच्छी प्रकार आपके चरणों में रखकर प्रणाम करके स्तुति करते हुये प्रार्थना करता हूं; पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के, पति जैसे पत्नि के अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप मेरे अपराधों को क्षमा करें।

॥ अ० ११ श्लोक ४१-४२-४३-४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।  
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥  
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।  
नेनैव स्वपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वपूर्ते ॥

इस आश्चर्यमय अपर्व रूप को देखकर मैं हर्षित भी हो रहा हूं और व्याकुल भी। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये, आप अपने उस दिव्यरूप को ही दिखाइये। मैं वैसे ही आपको मुकट धारण किये सुदर्शन-चक्र और गदा धारण किये देखना चाहता हूं। हे विश्वस्वरूप ! विश्वव्यापी-परमेश्वर ! सहस्र भुजा वाले आप चार भुजा सुदर्शन-चक्र ध्यान, गदा-नाम स्मरण, शंख-नाद, पद्म-अमृतमयकमल वाला रूप दिखाइये।

॥ अ० ११ श्लोक ४५, ४६ ॥

### श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवाजुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।  
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥  
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।  
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥  
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृग्ममेदम् ।  
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपण्य ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

हे अर्जुन ! मैंने अपनी योग-शक्ति से यह परम तेजोमय सबका आदि-अन्त रहित रूप दिखाया है, पहले न देखा गया रूप तूने देखा है। ऐसा न मैं वेद और यज्ञों के अध्ययन से और न दान से न तप तथा क्रियाओं से ही देखा जा सकता हूँ। इस प्रकार मेरे इस विकराल रूप को देखकर तुझे व्याकुलता न होवे और मूढ़भाव भी उत्पन्न न होवे और भयरहित प्रीतियुक्त मनवाला तू उस दिव्यरूप को फिर देख।

॥ अ० ११ श्लोक ४७-४८-४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।  
आश्वासयामास च भीतमेन भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

संजय बोला

हे राजन् ! वासुदेव भगवान् ने अर्जुन के प्रति ऐसा कहकर वैसे ही चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर महात्मा श्री कृष्ण ने सौम्यमूर्ति होकर भयभीत हुये अर्जुन को धीरज दिया। तब...

॥ अ० ११ श्लोक ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्टेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।  
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

अर्जुन बोला—

हे जनार्दन ! आपके इस अतिशान्त मनुष्य रूपको देखकर अब मैं अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ।

॥ अ० ११ श्लोक ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।  
 देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षणः ॥  
 नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।  
 शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥  
 भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।  
 ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले—

मेरा यह चतुर्भुजरूप देखने को अतिदुर्लभ है, जिसको कि तूने देखा है; क्योंकि देवता भी इस रूपको देखने की इच्छा करते हैं। ऐसा चतुर्भुजरूप न वेदों से न तपसे न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार मैं देखा जा सकता हूं; जैसा कि तूने देखा है। यह अनन्य भक्ति द्वारा तो प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, तत्व से जाना जा सकता है और प्रवेश भी किया जा सकता है तथा प्रेम से प्राप्त भी हो सकता है।

॥ अ० ११ श्लोक ५२-५३-५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।  
 निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मापेति पाण्डव ॥

जो मेरा भक्ति सबकुछ मेरा ही समझता हुआ, मुझ सगुण ब्रह्म परमेश्वर के लिये ही कर्म करता है और सर्वभूत प्राणियों में आसक्ति अथवा वैर-भाव से रहित है, वह अनन्य भक्ति वाला पुरुष मुझे प्राप्त होकर परमानंद को प्राप्त करता है।

॥ अ० ११ श्लोक ५५ ॥

**भाव—** [ “सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर मनुष्य जब तक अपने को ब्रह्मार्पण नहीं कर देता तब तक माया जाल से छुटकारा

नहीं हो सकता । यह प्राणी कर्म से बंधा हुआ है, इस शरीर के लिये जो कर्म करने पड़ते हैं उनका फल भोगने के लिये नाना भाँति की योनियों में जन्मता और मरता है । अतः पूर्णब्रह्म-परमेश्वर के लिये कर्म करने से ही मन व प्राण भी ब्रह्मार्पण हो सकते हैं अन्यथा नहीं । ” ]

## \* अथ द्वादशोऽध्यायः \*

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।  
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

अर्जुन उवाच

हे मनमोहन ! इस प्रकार सदा आपकी सेवा भक्ति में लगे हुये आपका पूजन करते हैं और एक आपके अव्यक्त अक्षर रूप परमब्रह्म को भजते हैं, इनमें योग का श्रेष्ठ ज्ञाता कौन है ?

॥ ३० १२ श्लोक १ ॥

**भाव—** [ "जिस प्रकार योग के चार रूप होते हैं—शांख, चक्र, गदा, पद्म, उसी प्रकार योग में साधन भी चार होते हैं—ध्यान, स्मरण, मुद्रा और श्रवण-क्रिया । सुदर्शन चक्र का ध्यान, नाम का स्मरण, क्रिया द्वारा शब्द श्रुति की एकता और मुद्रा द्वारा अमृत पान करना ये चार साधन हैं । इस योग की सफलता के लिये कामनाओं का त्याग करके सेवा सत्कर्म करना भक्ति है और यह भक्ति-योग ही अनन्य भक्ति है । ]

श्रीभगवानुवाच

मव्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।  
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥  
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।  
सर्वत्रगमचिन्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥  
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।  
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले

हे अर्जुन ! मेरे में मन एकाग्र करके ध्यान में लगे हुये जो श्रद्धा से मुझे भजते हैं, मेरे मत से वह श्रेष्ठ हैं । जो योगी इन्द्रियों को वश में करके अचल मन से अचिन्त्य अव्यक्त अक्षर का स्मरण करते हैं वे सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे योगी मुझे प्राप्त होते हैं ।

॥ अ० १२ श्लोक २-३-४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।  
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्विरवाप्यते ॥  
ये तु सवर्णिणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।  
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥  
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।  
भवामि नचिरात्पार्थं मव्यावेशितचेतसाम् ॥

किन्तु केवल अव्यक्तगति इस देह में प्राप्त करनी दुःख पूर्वक है; क्योंकि विषयों में आसक्त पुरुषों के लिये कठिन है। इसलिये जो भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके मेरे सगुण रूप परमेश्वर को ध्यान योग से चिन्तन करते हुये भजते हैं, उन प्रेमी भक्तों को मैं शीघ्र ही संसार सागर से पार लगाने वाला होता हूँ ।

॥ अ० १२ श्लोक ५-६-७ ॥

मव्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।  
निवसिष्यसि मव्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥  
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।  
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥  
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।  
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्यसि ॥  
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।  
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

इसलिए तू मन मेरे ध्यान में लगा, बुद्धि से मेरे लिए कर्म कर। इसप्रकार तू मेरे में ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यदि तू मन को ध्यान में स्थित करने में समर्थ नहीं है, तो अभ्यास रूप योग के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा कर। यदि अभ्यास करने में भी असमर्थ है तो मेरे लिये कर्म कर। नहीं तो सब कर्मों को त्यागकर सन्यास योग द्वारा मेरी शरण में हो क्योंकि त्याग में ही परम शान्ति है।

॥ अ० १२ श्लोक ८-९-१०-११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ञानाद्युयानं विशिष्यते ।  
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥  
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।  
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥  
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।  
मव्यर्पितमनोबुद्धियो मद्दक्तः स मे प्रियः ॥

क्योंकि बिना ज्ञान के अभ्यास से ज्ञान और ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से भी सब कर्मों का फल मेरे लिये त्याग करना श्रेष्ठ है, त्याग में ही शान्ति है। सर्वभूतों में द्वेष रहित ममता अहंकार स्वारथ रहित सबका प्रेमी दयालु क्षमावान, दुःख-सुख समान समझने वाला, सन्तुष्ट सदा आत्मा में दृढ़ निश्चय वाला योगी मेरे अर्पण की हुई मन बुद्धि द्वारा मेरी भक्ति करने वाला भक्त मुझे प्रिय है।

॥ अ० १२ श्लोक १२-१३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।  
हर्षामर्षभयोद्वैगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥  
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।  
सर्वारभ्यपरित्यागी यो मद्दक्तः स मे प्रियः ॥

यो न हृष्टति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।  
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयं भी किसी से उद्विग्न नहीं होता है तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है । जो पुरुष इच्छाओं से रहित तथा बाहर-भीतर से शुद्ध और चतुर है एवं पक्षपात से रहित और दुःख से छूटा हुआ है, वह सर्व आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मेरे को प्रिय है । जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है और न कामना रखता है तथा जो शुभाशुभ कर्म फल का त्यागी है वह मुझे प्रिय है ।

॥ अ० १२ श्लोक १५-१६-१७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।  
शीतोष्णासुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥  
तुल्यनिन्दास्तुतिमैनी संतुष्टे येन केनचित् ।  
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्ये प्रियो नरः ॥  
ये तु धर्म्यमृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।  
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

जो पुरुष शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों में सम है और सब संसार में आसक्ति से रहित है जो निन्दा-स्तुति को समान समझकर मनन शील है, रहने के स्थान में समता से रहित है वह स्थिर बुद्धि वाला भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है । जो विशुद्ध प्रेम से मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर हुये श्रद्धायुक्त धर्ममय अमृत को सेवन करते हैं वे भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।

॥ अ० १२ श्लोक १८-१९-२० ॥

## अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।  
 एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥  
 क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।  
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोज्ञानं यत्तज्ञानं मतं मम ॥  
 तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्व यद्विकारि यतश्च यत् ।  
 स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले । ।

हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं । हे भारत ! सब क्षेत्रों के ज्ञानने वाला क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान, मेरे मत से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है । वह क्षेत्र जो है, जैसा है और जिन विकारों वाला है तथा जैसे भी हुआ है मुझसे सुन ।

॥ अ० १३ श्लोक १-२-३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।  
 ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्विर्विनिश्चितैः ॥  
 महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।  
 इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥  
 इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।  
 एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

यह तत्त्व ऋषियों द्वारा छन्द तथा ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा बहुत प्रकार से समझाया गया है । यह क्षेत्र पंच

महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी पांच  
ज्ञानेन्द्रिय—कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक, पांच  
कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, हस्त, पाँव, लिंग, गुदा, पंच तन्मात्रा—शब्द,  
स्पर्श, रूप, रस, गंध और चार अन्तः क्रिया—अहंकार, मन, बुद्धि,  
चित्त इन से बना है और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, पिण्ड, चेतना  
धृति ऐसे यह क्षेत्र के विकार हैं यह क्षेत्र संक्षेप से कहा गया है ।

॥ अ० १३ श्लोक ४-५-६ ॥

अमानित्वमदभित्वमहिसा क्षान्तिराजवम् ।  
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिय्रहः ॥  
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।  
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥  
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।  
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥  
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।  
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥  
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।  
एतज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

हे अर्जुन ! अभिमान, दम्भाचरण का अभाव—प्राणी मात्र को  
न सताना, क्षमा सरलता और श्रद्धा भक्ति सहित गुरु की सेवा,  
अन्तःकरण की 'शुद्धि', मन इन्द्रियों का निग्रह । आसक्ति और  
अहंकार का 'न होना' जन्म मृत्यु बुद्धापा आदि व्याधियों में दोषों का  
देखना-ममता का 'न होना', प्रिय अप्रिय की प्राप्ति में सम रहना,  
ध्यान योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त शुद्ध देश में  
रहने का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्यों में प्रेम का 'न होना', अध्यात्म  
ज्ञान में स्थिति, परमात्मा को सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञान है

और इसके विपरीत अज्ञान है ।

॥ अ० १३ श्लोक ७-८-९-१०-११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वामृतमश्नुते ।  
 अनादिमत्यरं ब्रह्म न सत्तत्रासदुच्यते ॥  
 सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।  
 सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥  
 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।  
 असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

हे अर्जुन ! जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा। वह आदि-रहित परमात्मा न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है। परन्तु वह सब ओर से हाथ, पैर, नेत्र, सिर, और मुख, श्रोत्र वाला संसार में सब को व्याप्त करके स्थित है। सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है परन्तु वास्तव में विषयों से रहित है तथा आसक्ति रहित गुणों से अतीत हुआ भी योगमाया से सब को धारण पोषण करने वाला है।

॥ अ० १३ श्लोक १२-१३-१४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव ' च ।  
 सूक्ष्मत्वात्तदविजेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥  
 अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।  
 भूतभर्तु च तज्जेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥  
 ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।  
 ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

वह परमात्मा चराचर सब भूतों के बाहर भीतर परिपूर्ण है और वह सूक्ष्म होने से इन्द्रियातीत है तथा अति समीप में और दूर

में भी स्थित है। विभाग रहित आकाश के सदृश सम्पूर्ण भूतों में पृथक-पृथक प्रतीत होता है। वह विष्णुरूप से भूतों को धारण पोषण करने वाला, रूद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मरूप से सब का उत्पन्न करने वाला है। वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है एवं तत्वज्ञान से प्राप्त होने वाला सब के हृदय में स्थित है।

॥ अ० १३ श्लोक १५-१६-१७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समाप्तः ।  
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥  
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।  
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्ध्व प्रकृतिसम्भवान् ॥  
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।  
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥  
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुद्भक्ते प्रकृतिजानुणान् ।  
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान संक्षेप से कहा गया है, इसको तत्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। प्रकृति और पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ इन दोनों को ही तूं अनादि जान और राग द्वेषादि विकारों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुये जान। क्योंकि कार्य कारण उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है और जीवात्मा दुःख-सुख के भोगने में हेतु कहा जाता है। परन्तु प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुये त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।

॥ अ० १३ श्लोक १८-१९-२०-२१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।  
 परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्युरुषः परः ॥  
 य एवं वेति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।  
 सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥  
 ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।  
 अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥  
 अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।  
 तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

यह पुरुष इस शरीर में साक्षी होने से उपदृष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता होने से महेश्वर, परे होने से परम पुरुष कहा जाता है । इस पुरुष को और प्रकृति को जो मनुष्य तत्व से जानता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है । उस परम पुरुष परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञान योग के द्वारा तथा निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं । जो श्रद्धावान भक्त मुझ परमेश्वर को तत्व से नहीं जानते वे अन्य प्रेमी भक्तों द्वारा सुनकर उपासते हैं वे भी मृत्यु को तर जाते हैं ।

॥ अ० १३ श्लोक २२-२३-२४-२५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजडगमम् ।  
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥  
 समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।  
 विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥  
 समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।  
 न हिनस्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

हे अर्जुन ! जो कछु भी स्थावर जंगम वस्तु उत्पन्न होती है उस सम्पूर्ण को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान ।

इस प्रकार जानकर जो पुरुष नष्ट होते हुये सब चराचर भूतों में परमेश्वर को स्थित देखता है वही देखता है; क्योंकि वह पुरुष सबमें सम भाव से परमेश्वर को देखता हुआ आत्मा का नाश नहीं मानता है, वह परम गति पाता है।

॥ अ० १३ श्लोक २६-२७-२८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।  
यः पश्यति तथात्मानमकर्तरं स पश्यति ॥  
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।  
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥  
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।  
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति से ही उत्पन्न हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है वही देखता है। यह पुरुष जिस काल में भूतों के न्यारे-न्यारे भाव को एक परमात्मा के आधार स्थित देखता है उस काल में ब्रह्म को प्राप्त होता है। अनादि और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी न कर्ता है और न लिपायमान होता है।

॥ अ० १३ श्लोक २९-३०-३१ ॥

थथा सर्वतां सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।  
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥  
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्त्वं लोकमिमं रविः ।  
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्त्वं प्रकाशयति भारत ॥  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।  
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता है वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ आत्मा भी

लिपायमान नहीं होता है। जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्व से जानते हैं वे महात्मा जन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

"क्योंकि वह परमात्मा किसी भी आत्मा के कर्मों को ग्रहण नहीं करता और न कामनाओं को ही। परमात्मा की प्रकृति कर्मानुसार तथा कामनाओं के अनुसार उनके फल को रचती है। इसलिये परमात्मा कर्मों में लिपायमान नहीं होता।

॥ अ० १३ श्लोक ३२-३३-३४ ॥

## अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।  
यज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥  
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्यमागताः ।  
सर्वेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

भगवान् श्री कृष्ण फिर बोले

हे अर्जुन ! मैं तुझे ज्ञानों में उत्तम ज्ञान विशेषता से बताऊँगा कि जिसको जानकर सब मुनिजन परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं । इस ज्ञान को धारण करके सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न नहीं होते और अन्तकाल में भी व्याकुल नहीं होते, क्योंकि वे साधन में लवलीन रहते हैं ।

॥ अ० १८ श्लोक १-२ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्नार्थं दधाम्यहम् ।  
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥  
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।  
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

मेरी ब्रह्मरूप प्रकृति योनि है, उसमें मैं गर्भ धारण करता हूँ, जिससे सम्पूर्ण भूत अर्थात् पाँच तत्व उत्पन्न होते हैं । सब मूर्तियाँ अर्थात् शरीरों को उत्पन्न करने वाली ब्रह्मयोनि चेतन प्रकृति तो माता है और उसमें बीच-मंत्र को धारण करने वाला मैं पिता हूँ ।

॥ अ० १३ श्लोक ३-४ ॥

**भाव-** [ "जिस प्रकार स्त्री पुरुष के स्पर्श से गर्भ में ब्रह्मा

के द्वारा जीवात्मा प्रवेश करती है, उसी प्रकार भूतात्माओं के शरीर भी ब्रह्म और प्रकृति के स्पर्श से उत्पन्न हो जाते हैं। सारे विश्व को प्रकृति ही आत्माओं की इच्छानुसार उत्पन्न करती है। इसलिये सारे विश्व की रचना करने पर भी ब्रह्म और प्रकृति दोनों अकर्ता तथा निर्लेप हैं।”]

सत्त्वं रजस्तम इति गुणः प्रकृतिसंभवाः  
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥  
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।  
सुखसङ्गेन बधाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥  
रजो गगात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्घवम् ।  
तत्रिबधाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥  
तमस्त्वज्ञानं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।  
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तत्रिबधाति भागत ॥

सत्, रज, तम ऐसे तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न होकर अविनाशी जीव को शरीर में बाँधते हैं। इनमें सतो गुण तो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा सुख में बाँधता है, रजो गुण कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म और कर्म फल में बाँधता है तथा तमोगुण इन्द्रियों के विषय भोगों की कामना वश मन और अहंकार के द्वारा बाँधता है, जो आलस्य और निद्रा उत्पन्न करता है।

॥ अ० १४ श्लोक ५-६-७-८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।  
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥  
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।  
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

और उस शरीर में स्थित हुआ यह जीवात्मा कान, आँख त्वचा और रसना तथा नाकको अथवा मनको आश्रय करके विषयों

का सेवन करता है। रजोगुण और तमोगुण को दबाकर अर्थात् इन्द्रियाँ और मन को विषयों से हटाकर सतोगुण बढ़ता है इसी प्रकार रज और सत् को दबाकर ज्ञान और कर्म से उपराम होकर तमोगुण अर्थात् निद्रा और आलस्य बढ़ता है। वैसे ही तम और सत् को दबाकर अर्थात् ज्ञान और आलस्य को दबाकर रजोगुणरूप कर्म में आसक्ति बढ़ती है।

॥ अ० १४ श्लोक ९-१० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्नकाश उपजायते ।  
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥  
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।  
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥  
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।  
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

सतोगुण बढ़ने से अंतःकरण और इन्द्रियों में बोध शक्ति उत्पन्न होती है। रजोगुण बढ़ने पर कर्मफल में आसक्ति से लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण के बढ़ने पर अंतःकरण में अज्ञानता, इन्द्रियों में कर्महीनता तथा प्रमाद—व्यर्थ चेष्टा, निद्रा आदि मोहनी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।                    ॥ अ० १४ श्लोक ११-१२-१३ ॥

**भाव-** [ "सत्-चित्-आनन्द—परमेश्वर के ज्ञान से ही तीनों गुण उत्पन्न होते हैं, सत् का जानना सतोगुण और ज्ञान का अभाव ही तमोगुण है तथा इन दोनों का मिश्रण ही रजोगुण है।" ]

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।  
तदोत्तमविदां लोकानमलान्नतिपद्यते ॥  
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।  
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।  
 रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥  
 सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।  
 प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

जब यह जीवात्मा सतोगुण के बढ़ने पर देह त्याग करता है तो मल रहित दिव्यलोकों को प्राप्त होता है । रजोगुण बढ़ने पर कर्मफल की आसक्ति वाली योनियों में तथा तमोगुण बढ़ने पर जब शरीर त्यागता है तो कीट पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है । सात्त्विक कर्म का फल उत्तम निर्मल ज्ञान, सुख और राजसिक कर्म का फल दुःख तथा तामसिक कर्म का फल अज्ञानांधकार है । सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ, तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है । ]

॥ अ० १४ श्लोक १४-१५-१६-१७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।  
 जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥  
 नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।  
 गुणेभ्यश्च परं वेति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥  
 गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।  
 जन्ममृत्युजगदुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्रुते ॥

इसलिए सतोगुण में स्थित हुए पुरुष उच्चलोक को और रजोगुण में स्थित पुरुष मध्य में एवं तमोगुण में निद्रा प्रमाद द्वारा अधोगति पाता है । जो इन तीनों गुणों को उत्पन्नकर्ता मुझे परमेश्वर को जानकर मुझे देखता है वह द्रष्टा मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है । शरीर समुदाय को उत्पन्न करने वाले तीनों गुणों से रहित होकर जन्म मृत्यु वृद्धा अवस्था के दुःखों से मुक्त होते हैं वे अमृत पान करते हैं ।

॥ अ० १४ श्लोक १८-१९-२० ॥

अर्जुन उवाच  
कैलिङ्गस्त्रीनुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।  
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीनुणानतिवर्तते ॥

अर्जुन ने पूछा

हे पुरुषोत्तम ! त्रिगुणातीत के क्या लक्षण हैं ? क्या आचरण हैं ? और तीनों गुणों से कैसे न्यारा होता है ?

॥ अ० १४ श्लोक २१ ॥

**भाव—** [ “परमेश्वर को जानकर उसके लिये कर्म करना ही सात्त्विक कर्म है । परन्तु विद्वानजन कामनाओं की पूर्ति के लिये परमात्मा के नाम पर कर्म करने को सात्त्विक कर्म समझते हैं । और ऐसे अविधिपूर्वक कर्म करने वाले को सतोगुणीत्प्रभावनते हैं, वे सतोगुणी भी जिस कामना को लेकर कर्म करते हैं उस कामना का फल भोगने के लिये संसारचक्र में ही वर्तते हैं । इसलिये त्रिगुणातीत होने को कहा है ।” ]

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।  
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काढक्षति ॥  
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।  
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥  
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्छनः ।  
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिदात्मसंस्तुतिः ॥  
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

हे पाण्डव ! जो सतोगुण के प्रकाश को रजोगुण की वृत्तियों

को और तमोगुण के मोह उत्पन्न होने को बुरा नहीं समझता और उत्पन्न भी नहीं करता। जो उदासीनता से गुणों द्वारा विचलित नहीं होता—गुण ही गुण में वर्तते हैं; ऐसा जानकर एकही भाव में स्थित रहता है। वह आत्मा में स्थित हुआ दुःख-सुख में स्वस्थ, लोह-कंचन, एवं प्रिय-अप्रिय में समभाव निन्दा-स्तुति में धीर, मान-अपमान में, मित्र और बैरी के पक्ष में, समभाव तथा कर्मों के आरम्भ में कर्तापिन का अभाव रखता है वह गुणातीत कहा जाता है।

॥ अ० १४ श्लोक २२-२३-२४-२५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।  
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥  
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।  
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

जो पुरुष अव्यभिचारिण भक्तियोग द्वारा मेरी सेवा करता है वह त्रिगुणातीत होकर ब्रह्म में लीन होता है। अविनाशी ब्रह्म, अमृत, नित्य धर्म और अखण्ड आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ।

॥ अ० १४ श्लोक २६-२७ ॥

**भाव—** “जो पुरुष भक्ति के सिवाय किसी भी देवता की उपासना नहीं करता, दूसरे की आशा नहीं रखता। सम्पूर्ण कार्य ईश्वर इच्छा से निष्काम भाव से करता है उसकी भक्ति अव्यभिचारी है। ]

## अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमध्यः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पणाणि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

अथश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अथश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मनुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरुद्धमूलमसङ्गशङ्क्षेण दृढेन छित्त्वा ॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा

अविनाशी वृक्ष (अक्षयवट) की मूल परमेश्वर है और मुख्य डाल ब्रह्मा तथा पर्से वेद हैं, ऐसा जानने वाला ही वेद के तात्पर्य को जानता है। उस संसार वृक्ष की तीनों गुणों से बढ़ी हुई-देव, मनुष्य कीटाणु रूप शाखायें ऊपर नीचे फैली हुई हैं। इस संसार वृक्ष का न तो प्रारम्भ है न अन्त और न स्थिति। अतः ज्ञान रूप तलवार से इसे काट कर परमेश्वर को मूल में खोज।

॥ अ० १५ श्लोक १-२-३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्नाता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

निर्मानिमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वविर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

न तद्वासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्वाम परमं मम ॥

जिसमें गये हुये मनुष्य संसार में नहीं भ्रमते हैं, जिससे संसार उत्पन्न होता है, उस प्रभू की शरण होकर मान और मोह-आसक्ति रूप दोष जिसने जीत लिया है और जिनकी कामना नष्ट हो गई है ऐसे दुःख सुख द्वन्द्वों से मुक्त हुये ज्ञानी जन जिस अविनाशी पद को पाते हैं। जहाँ न सूर्य ही चमकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही, वह परम प्रकाश ही मेरा परम धाम है।

॥ अ० १५ श्लोक ४-५-६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।  
 मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥  
 शरीरं यदवाप्रोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।  
 गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गच्छानिवाशयात् ॥  
 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।  
 अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥  
 उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुज्ञानं वा गुणान्वितम् ।  
 विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, वह प्रकृति के स्थान से मन इन्द्रियों को आकर्षित करता है। जैसे वायु गंध को हर लेता है वैसे ही शरीर का स्वामी जीवात्मा इन्द्रियों को मन द्वारा हर लेता है। यह जीवात्मा कान, आंख, त्वचा और रसना तथा नाक अथवा मन के सहारे से विषयों को सेवन करता है। तीनों गुणों से युक्त विषय भोगते हुये को मूढ़जन नहीं देखते हैं, केवल ज्ञान चक्षु वाले ही देखते हैं।

॥ अ० १५ श्लोक ७-८-९-१० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।  
 यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽरिखलम् ।  
 यच्चन्द्रपसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मापकम् ॥  
 गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।  
 पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥  
 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।  
 प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

प्रयत्नशील ही उस परमात्मा को आत्मा में देखते हैं और कर्तव्य हीन तो यत्न करके भी नहीं देखते । सूर्य के अन्दर जो तेज है, जिससे सारा विश्व प्रकाशित होता है, जो प्रकाश चन्द्रमा और अग्नि के अन्दर है उसको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान । मैं ही पृथ्वी को, सम्पूर्ण भूतों को धारण करता हूँ और चन्द्रमा में रसरूप होकर सम्पूर्ण वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ । मैं ही प्राण-अपान के आश्रित हुये शरीर में वैश्वानर अग्नि होकर चार प्रकार के अन्न पचाता हूँ ।

॥ ॐ १५ श्लोक ११-१२-१३-१४ ॥

चाटना, चबाना, निगलना, चूसना यह चार प्रकार का भोजन है ।

स्वर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिज्ञानिमपोहनं च ।  
 वर्देश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में रहकर स्मृति-ज्ञान और

निश्चय उत्पन्न करता हूँ, मैं ही वेद के जानने योग्य हूँ। संसार में दो तरह के पुरुष हैं—एक तो वह पुरुष जिसका शरीर नाशवान है और दूसरा जो अक्षरः ब्रह्म-सब भूतप्राणियों के अन्दर है। उत्तम पुरुष वह है जो सब लोकों को धारण-पोषण करने वाला अविनाशी है। मैं सबसे न्यारा और उत्तम अक्षर हूँ इसलिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

॥ अ० १५ श्लोक १५-१६-१७-१८ ॥

यो मामेवमसंपूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।  
स सर्वविद्धजति मां सर्वभावेन भारत ॥  
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।  
एतदबुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृत्क्यश्च भारत ॥

इस प्रकार ज्ञानीपुरुष मुझे तत्व से पुरुषोत्तम जानता है, वह सब प्रकार से मुझ परमेश्वर को भजता है। ऐसा यह अति गुप्त रहस्य युक्त शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है, इसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान्, कृतार्थ हो जाता है।

॥ अ० १५ श्लोक १९-२० ॥

भगवान् ने अपना परम गोपनीय प्रभाव भली प्रकारसे कहा है। जो मनुष्य उक्त प्रकारसे भगवान् को सर्वोत्तम समझ लेता है, फिर उसका मन एक क्षण भी भगवान् के चिन्तन का त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि जिस वस्तु को मनुष्य उत्तम समझता है, उसी में उसका प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है उसी का चिन्तन होता है, अतएव सबका मुख्य कर्तव्य है कि भगवान् के परमगोपनीय प्रभाव को भली प्रकार समझने के लिये नाशवान्, क्षणभंगुर संसार की आसक्ति का सर्वथा त्याग करके एवं परमात्मा के शरण होकर भजन और सत्संग की ही विशेष चेष्टा करें।

## अथ षोडशोऽध्यायः

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्जनयोगव्यवस्थिति ।  
 दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥  
 अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।  
 दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥  
 तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता ।  
 भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

भय रहित शुद्ध अन्तःकरण से ज्ञानयोग के ध्यान में स्थिति, दान तथा इन्द्रियों का दमन, सेवा-पूजा स्वाध्याय आदि यज्ञों को करना । दया, अहिंसा, सत्यभाषण करना और क्रोध तथा विषयों में आसक्ति रहित कर्मों में कर्तापन का, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव । तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतर की शुद्धि तथा शत्रुता और मान प्राप्ति का अभाव यह सब दैवी प्रवृत्ति के लक्षण हैं ।

॥ अ० १६ श्लोक १-२-३ ॥

दध्मो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।  
 अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थं संपदमासुरीम् ॥  
 दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्ध्यायासुरी मता ।  
 मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥  
 द्वौ भूतसर्गाँ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।  
 दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थं मे शृणु ॥

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कटुबचन और अज्ञान यह आसुरी वृत्ति के लक्षण हैं । हे पाण्डव ! दैवी प्रवृत्ति मोक्ष के लिये और आसुरी वृत्ति बन्धन के लिये मानी गई है, इसलिये सोच

न कर, तू दैवी प्रवृत्ति को प्राप्त हुआ है। इस लोक में भूत प्राणियों के स्वभाव दैवी और आसुरी दो प्रकार के हैं इनमें दैवी प्रवृत्ति का स्वभाव ही विस्तार से कहा है, अब आसुरी वृत्ति का स्वभाव सुन।

॥ ॐ १६ श्लोक ४-५-६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।  
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥  
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहरनीश्वरम् ।  
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥  
एतां दृष्टिमवष्ट्रभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।  
प्रभवन्त्युग्रकर्मणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

आसुरी स्वभाव वाले शुभकार्य में लगने को, अशुभ से बचने को नहीं जानते। इसलिये उनमें पवित्रता, शुद्धाचरण, सत्य भाषण नहीं होता। वे कहते हैं कि जगत् आश्रय रहित झूठा बिना ईश्वर के, भूतों के संयोग से रचा गया है, इसका भोगों के सिवाय कारण ही क्या है? इस प्रकार ऐसी दृष्टि वाले अल्पबुद्धि जन प्रभाव सहित कठिन दूषित कर्मों को करके जगत् की और अपनी आत्मा का नाश करते हैं।

॥ ॐ १६ श्लोक ७-८-९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दध्मानमदान्विताः ।  
मोहादगृहीत्वासदग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥  
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।  
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥  
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।  
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

वे मनुष्य दम्भ, मान, मद से युक्त हुये काम का आसरा लेकर

अज्ञानता के मिथ्या सिद्धान्त और भ्रष्टाचरण से युक्त हुये संसार में वर्तते हैं। उनका मरण पर्यन्त अनेकों चिन्ताओं के आश्रित हुये विषय भोगों को भोगने में ही परमानन्द है ऐसा निश्चय है। आशा रूपी सैंकड़ों फासियों से बन्धे हुये काम और क्रोध में लीन भोगों की कामना हेतु अन्याय पूर्वक पदार्थ संचय करते हैं।

॥ अ० १६ श्लोक १०-११-१२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्ये मनोरथम् ।  
 इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥  
 अस्यै मया हतः शत्रुहनिष्ये चापरानपि ।  
 ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥  
 आद्योऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।  
 यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

मैंने आज यह पाया है, आगे इस मनोरथ को प्राप्त होऊंगा, मेरे पास इतना धन है, आगे और भी होगा। मेरे द्वारा वह शत्रु मारा गया, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा, मैं भोग ईश्वर्य युक्त ईश्वर हूँ, सब सिद्धियों से युक्त बलवान और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान और कुटुम्ब वाला हूँ, मैं यज्ञ दान करके हर्षित होऊंगा, मेरे समान कौन है? ऐसे अज्ञान से जो मोहित हैं वे:-

॥ अ० १६ श्लोक १३-१४-१५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।  
 प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥  
 आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।  
 यजन्ते नामयज्ञैस्ते दध्मेनाविधिपूर्वकम् ॥  
 अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।  
 मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽश्यसूयकाः ॥

अनेक प्रकार से भ्रमित हुये चित्त वाले अज्ञानी जन मोह-रूप जाल में फँसे हुये एवं विषय भोगों में आसत्त हुये अपवित्र नरक में गिरते हैं। तथा वे घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त हुए शास्त्रविधि से रहित केवल नाम मात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से यजन करते हैं। तथा अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोध आदि के परायण हुये पुरुष मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करते हैं।

॥ अ० १६ श्लोक १६-१७-१८ ॥

तानहं द्विषतः कूरान्संसारेषु नराधमान् ।  
क्षिपाप्यजस्तमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥  
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।  
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यथमां गतिम् ॥  
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।  
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

उन दूषित क्रूर-कर्मी नराधमों को आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ। वे मूढ़ पुरुष मुझे प्राप्त न होकर अत्यन्त अधोगति को प्राप्त होते हैं। काम-क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं तथा आत्मा का नाश करने वाले हैं इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

॥ अ० १६ श्लोक १९-२०-२१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।  
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥  
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।  
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥  
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्यकार्यव्यवस्थितौ ।  
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

इन तीनों अन्धेरे द्वारों से मुक्त हुये स्त्री-पुरुष अपने कल्याण का आचरण करते हुये परमगति पाते हैं। जो शास्त्रों के विरुद्ध मनमानी करते हैं, वे न सिद्धि, न सुख और न परमगति को ही पाते हैं। अतः कर्तव्य और अकर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण है, तू शास्त्रविधि से निश्चय किये हुये कर्तव्य को ही करने योग्य है।

॥ अ० १६ श्लोक २२-२३-२४ ॥

## अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।  
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण ! जो शास्त्रविधि को त्यागकर श्रद्धा से देवताओं को उपासते हैं उनकी निष्ठा क्या सात्त्विक है, राजसिक है या तामसिक है ?

॥ अ० १७ श्लोक १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।  
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥  
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।  
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले

हे अर्जुन ! शरीर के स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विक राजसिक और तामसिक जैसी भी है सुन । हे भारत ! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुसार ही होती है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका स्वरूप भी वैसा ही है ।

॥ अ० १७ श्लोक २-३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।  
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।  
 दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥  
 कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।  
 मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

सात्त्विक श्रद्धावाले देवताओं को पूजते हैं और राजस पुरुष यक्षों को तथा तामस पुरुष भूत प्रेतों को पूजते हैं। और जो पुरुष शास्त्र विधि से रहित घोर तप को तपते हैं और अहंकारी, दम्भी, कामी, अभिमानी हैं, वे शरीर-स्थित इन्द्रियों सहित पंच महाभूतों को, अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कष्ट देते हैं उन्हें तू असुर ही जान ।

॥ ३० १७ श्लोक ४-५-६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।  
 यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥  
 आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।  
 रस्याःस्त्रिगाधाःस्थिराहृद्याआहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥  
 कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्षणरूक्षविदाहिनः ।  
 आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥  
 यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।  
 उच्छिष्टप्रियम् चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

सबको भोजन भी तीन प्रकार से प्यारा होता है और यज्ञ, तप, दान का भेद भी तू मुझसे सुन । आयु, बल, बुद्धि आरोग्य, सुखदायक, रसयुक्त, चिकने और हृदयपौष्टिक प्रिय पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्यारे लगते हैं। कडुवे, खट्टे, लवणयुक्त, अतिगरम, तीक्ष्ण, रुखे और दाह कारक तथा जो भोजन दुःख चिन्ता कारक हैं वह राजस पुरुष को प्यारे लगते हैं तथा जो

भोजन, अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, अपवित्र है वह तामस पुरुष को प्रिय है।

॥ अ० १७ श्लोक ७-८-९-१० ॥

अफलाकाढ़क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टे य इज्यते ।  
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥  
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।  
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥  
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।  
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

जो यज्ञ ब्रह्मा को विधान से कर्म फल की इच्छा न रखकर मन को समाधान करके किया जाता है, वह सात्त्विक है। जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के द्वारा फल की इच्छा से किया जाता है उसे राजस जान। जो यज्ञ विधि के विधान से रहित है और अन्न को न उपजाने वाला मंत्र-शब्द तथा ज्ञान और श्रद्धा से रहित है उसे तामस कहते हैं

॥ अ० १७ श्लोक ११-१२-१३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।  
ब्रह्मचर्यमहिसा च शारीरं तप उच्यते ॥  
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।  
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाढ़मयं तप उच्यते ॥  
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।  
भावसंशुद्धिरित्येतत्पो मानसमुच्यते ॥

परमेश्वर, संत, गुरु और ज्ञानी जनों की पूजा सेवा करना और पवित्रता, सरलता, ब्रह्माचरण करना, द्वेष रहित होना यह शरीर की सेवा है। जो उद्वेग उत्पन्न न करने वाला प्रिय और

हितकारक भाषण करते हैं तथा योग अभ्यास के लिये स्वाध्याय करते हैं यह वाणी की सेवा है। मन की प्रसन्नता, शान्त स्वभाव, भगवत् चिन्तन, मन का निग्रह, पवित्रता, यह मन की सेवा है।

॥ अ० १७ श्लोक १४-१५-१६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरः ।  
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥  
सत्कारमानपूजार्थं तपो दध्नेन चैव यत् ।  
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमधुवम् ॥  
मूढग्राहेणात्मनो यत्यीडया क्रियते तपः ।  
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

फल को न चाहने वाले निष्कामी-योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये गये तीनों तपों को सात्त्विक कहते हैं। जो सत्कार अथवा मान प्राप्ति हेतु फल भोगों की इच्छा से कपट द्वारा पूजा तप आदि कर्म पाखण्ड से किया जाता है वह राजस कर्म है। मूढ़ता पूर्वक अनिष्ट करने के लिये अथवा अनिष्ट करने वाले देवताओं का पूजन, मन वाणी और शरीर की पीड़ा के लिये भविष्य का ज्ञान ये तामस कर्म हैं।

॥ अ० १७ श्लोक १७-१८-१९ ॥

दातव्यमिति यदानं दीयतेऽनुपकारिणे ।  
देशे काले च पात्रे च तदानं सात्त्विकं सृतम् ॥  
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।  
दीयते च परिक्लिष्टं तदानं राजसं सृतम् ॥  
अदेशकाले यदानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।  
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

दान देना ही कर्तव्य है ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर दूसरों के उपकार के कारण दिया जाता है

वह सात्त्विक है। जो दान बदले में प्रत्युपकार पाने के फल की इच्छा रखकर या कलेश पूर्वक दिया जाता है वह राजस है जो दान तिरस्कार सहित देश और पात्र को न देखकर अज्ञानी पुरुषों को दिया जाता है वह तामस है।

॥ अ० १७ श्लोक २०-२१-२२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।  
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥  
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।  
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥  
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।  
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

अ-उ-म तत्-सत् इस निर्देश से ब्राह्मण गण इसको यज्ञ के उत्पन्न करने वाला तथा ब्राह्मण और वेद के उत्पन्न करने वाले नाम बताते हैं। इसीलिये वेद वक्त्ताओं की यज्ञ, तप, दान आदि सभी क्रियायें ओमित्य का उदाहरण देकर प्रारम्भ होती हैं। मोक्ष की इच्छा वाले तद्-इति वह ऐसा है, नाम से निष्काम तप, यज्ञ और दान वाली क्रियाओं को करते हैं।

॥ अ० १७ श्लोक २३-२४-२५ ॥

सद्बावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।  
प्रशस्ते कर्मणं तथा सच्छब्दः पाश्च युज्यते ॥  
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।  
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥  
अश्रद्धया हृतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।  
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्रेत्य नो इह ॥

सत्-भाव से, साधुभाव से और सत् परमात्मा के भाव से और हे पार्थ सत् सत्कर्म में भी प्रयोग किया जाता है। तथा तप, यज्ञ, दान की स्थिति में भी सद् इति कहा जाता है और परमात्मा के लिये किये गये कर्म में भी सत् कहा जाता है परन्तु बिना श्रद्धा अर्थात् सत् तत् ऐसा जो वो सत् परमात्मा का नाम है उसके बिना होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप तथा सभी कर्म दोनों लोकों में असत् हैं।

॥ अ० १७ श्लोक २६-२७-२८ ॥

## अथ अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।  
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्क्रेशनिषूदन ॥

अर्जुन बोला

हे महाबाहो ! मैं संन्यास के और त्याग के तत्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ।                            ॥ अ० १८ श्लोक १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।  
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥  
त्यज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।  
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

भगवान श्री कृष्ण बोले

हे अर्जुन ! कितने ही पण्डितजन तो कामना युक्त कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं और कितने ही सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं । कई सभी कर्म दोषयुक्त हैं; इसलिये त्यागने योग्य हैं ऐसा कहते हैं । दूसरे कहते हैं कि दान, यज्ञ और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं ।

॥ अ० १८ श्लोक २-३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।  
त्यागो हि पुरुषव्याधि त्रिविधः संप्रकीर्तिः ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।  
 यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥  
 एतान्यपि तु कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।  
 कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन ! वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का कहा गया है, किन्तु यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि यज्ञ, दान और तप यह तीनों ही बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं । यह यज्ञ, दान और तप रूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसत्ति को और फलों को त्याग कर अवश्य करने चाहिये ऐसा मेरा मत है ।

॥ अ० १८ श्लोक ४-५-६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।  
 मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तिः ॥  
 दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत् ।  
 स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥  
 कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।  
 सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

हे अर्जुन ! नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है । जो कुछ कर्म है वह सभी दुःख रूप है, ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता । अतः यह राजस है । करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही जो निश्चित किया हुआ कर्तव्य आसत्ति को और फल को त्यागकर किया जाता है वही सात्त्विक त्याग माना गया है ।

॥ अ० १८ श्लोक ७-८-९ ॥

ने द्वेष्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्ञते ।  
 त्यागी सत्त्वसमाविष्टे मेधावी छिन्नसंशयः ॥  
 न हि देहभूता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।  
 यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥  
 अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।  
 भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

जो पुरुष अहितकर कर्म से द्वेष नहीं करता और लाभ दायक कर्म से आसक्त नहीं होता वह सतोगुणी पुरुष संशय रहित ज्ञानवान और त्यागी है। क्योंकि देहधारियों द्वारा सम्पूर्ण कर्म त्यागे नहीं जा सकते। अतः कर्मों के फल का त्याग ही सच्चा त्याग है। अच्छा बुरा और निर्दोष तीन प्रकार के कर्मफल शरीर के बाद भी होते हैं, किन्तु संन्यासियों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता।

॥ अ० १८ श्लोक १०-११-२२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।  
 सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥  
 अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।  
 विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥  
 शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।  
 न्यायं वा विपरीतं वा पञ्चते तस्य हेतवः ॥  
 तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।  
 पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्र स पश्यति दुर्मतिः ॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये यह पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं। आधार कर्ता और करण तथा नाना प्रकार की चेष्टा अथवा देव (ईश्वर) उचित-अनुचित जो भी कर्म प्रारम्भ किया जाता है, उसमें यह पाँचों कारण हैं। किन्तु ऐसा

होने पर भी जो अज्ञानीजन केवल आत्मा को ही कर्ता देखता है वह मन्द बुद्धि है ।

॥ अ० १८ श्लोक १३-१४-१५-१६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।  
हत्वापि स इपाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥  
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।  
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥  
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।  
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

जिसमें कर्तापन का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में, कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह मरने मारने के पाप में नहीं बंधता । ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय यह तीन कर्म के प्रेरक हैं तथा कर्ता, करण और क्रिया इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है । इनमें ज्ञान कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के कहे गये हैं, इनको भी सुन !

॥ अ० १८, श्लोक १७, १८, १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।  
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥  
पृथक्त्वेन तु यज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।  
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥  
यत् कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।  
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहतम् ॥

जिस ज्ञान से मनुष्य अलग-अलग सब जीवात्माओं में एक अविनाशी ईश्वर को समान भाव से देखता है, उस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान । और सम्पूर्ण जीवात्माओं में पृथक्-पृथक्

भावानुसार जो ईश्वर को एक-पृथक् देखता है उस ज्ञान को राजस ज्ञान । जो क्रियाओं को कर्ता मान कर कर्म में आसक्त रहता है, कारण और कर्ता को नहीं जानता वह तामस है ।

॥ अ० १८ श्लोक २०-२१-२२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।  
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥  
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वाऽपुनः ।  
क्रियते बहुलायासं तद्राजसपुदाहृतम् ॥  
अनुबन्धं क्षयं हिसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।  
मोहादारभ्यते कर्म यत्तामसमुच्यते ॥

जो निश्चित किया हुआ करने योग्य कर्तव्यफल की आसक्ति को और कर्तापन को त्यागकर बिना राग-द्वेष के किया जाता है, वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है । जो कर्म परिश्रम और अहंकार से फल की इच्छा रख कर किया जाता है वह राजस कहा गया है, जो कर्म सामर्थ्य हीन, हिसात्मक, हानि कारक, अज्ञानता से किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है ।

॥ अ० १८ श्लोक २३-२४-२५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।  
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥  
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिसात्मकोऽशुचिः ।  
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तिः ॥  
अयुक्तः प्राकृतः स्तव्यः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।  
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार, शोक और विकारों से रहित धैर्य और उत्साह सहित सिद्धि असिद्धि की चिन्ता नहीं करता, वह

कर्ता सात्त्विक कहा जाता है। जो कर्ता लोभ, मोह, हिंसा, अपवित्र, हर्ष, शोक-युक्त और फल की इच्छा वाला है, वह कर्ता राजस कहा गया है। जो कर्ता संशय युक्त, अशिक्षित, घमण्डी धूर्त, कलह कारी, दुष्ट कर्म करने वाला, आलसी और चिन्ता युक्त है वह कर्ता तामस कहा जाता है।

॥ अ० १८ श्लोक २६-२७-२८ ॥

बुद्धेभेदं धृतेश्वैव गुणतस्त्रिविध शृणु ।  
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥  
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।  
बन्धं मोक्षं च या वेति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥  
यया धर्ममधर्म च कार्यं चाकार्यमेव च ।  
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा प्रार्थ राजसी ॥  
अधर्मं धर्मभिति या मन्यते तप्सावृता ।  
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

तथा हे अर्जुन ! तू बुद्धि का और धारण-शक्ति का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का भेद सम्पूर्णता से विभाग पूर्वक सुन । हे पार्थ ! कर्तव्य और अकर्तव्य तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्व से जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विक है और हे पार्थ ! धर्म और अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानती है वह बुद्धि राजसिक है। जो बुद्धि धर्म को अधर्म मानती है और सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है, वह तामसी है।

॥ अ० १८ श्लोक २९-३०-३१-३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।  
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥  
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयते अर्जुन ।  
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

यथा स्वप्रं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।  
न विमुच्छति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

हे पार्थ ! ध्यान—योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धारणा सात्त्विक है । अति आसक्ति से जिस धारणा के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है वह धारणा राजस है । पार्थ ! जिस धारणा के द्वारा निद्रा भय चिन्ता और दुःखों को एवं उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता है वह धारणा तामसी है ।

॥ अ० १८ श्लोक ३३-३४-३५ ॥

सुखं त्विदानों त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।  
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥  
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।  
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥  
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।  
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥  
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।  
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

हे भारत ! सुख भी तू तीन प्रकार का सुख ध्यान तथा सेवा के प्रारम्भ समय में विष जैसा भाषता है और परिणाम में अमृत जैसा है वह सात्त्विक सुख है । जो सुख इन्द्रियों के संयोग से भोग काल में अमृत जैसा और परिणाम में विष जैसा है, वह सुख राजस है । जो सुख मन के उद्वेग से भोगे जाते हैं और आत्मा को मोहित करके प्रमाद उत्पन्न करते हैं वह सुख तामस हैं ।

॥ अ० १८ श्लोक ३६-३७-३८-३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।  
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्रिभिर्गुणैः ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।  
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

पृथ्वी में या देवलोक में ऐसा कोई भी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न हुये तीनों गुणों से रहित हो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये स्वभाव से गुण और कर्मों के संस्कार द्वारा ही विभक्त किये गये हैं ।

॥ अ० १८ श्लोक ४०-४१ ॥

**भाव-** [ "जब तक ब्राह्मण ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान को भगवतार्पण नहीं करता और क्षत्रिय रजोगुण रूप न्याय, व्याकरण—सत् भाव की स्थिति, ज्योतिष—भूत, भविष्य का ज्ञान, मिमांसा—समस्याओं का हल करना, निरुक्त—लोक सिद्धान्तों का संग्रह, छन्द—सुन्दर शब्दों द्वारा स्तुति आदि गुणों को भगवतार्पण नहीं करता और वैश्य तमोगुण रूप अज्ञान में लगे हुये जीवों को ज्ञानार्थ खाद्य, अर्थ, गौपालन, वनिज द्वारा द्रव्य अर्पण नहीं करता, तबतक ये तीनों गुणों से मुक्त कैसे हों । शूद्र तो तीनों गुणों से मुक्त है फिर भी लोक हितार्थ सम्पूर्ण कर्मों को करता है ।" ]

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।  
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥  
शौर्यं तेजो धृतिर्दक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।  
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥  
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।  
परिचर्यात्मिकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

ज्ञान प्राप्त करना, मन की ध्यान में एकाग्रता, इन्द्रिय दमन, सेवा में आस्तिक भाव, क्षमा, शील, सहन, पवित्रता ये आठ ब्राह्मण के कर्म हैं । तेज, धैर्य, चतुरता और वीरता सहित धर्म

रक्षार्थ युद्ध करना ईश्वरीय भाव से जनता का पालन व रक्षा करना ये छः क्षत्रिय के धर्म हैं। खेती, गौपालन व्यापार द्वारा धर्म हेतु सम्पूर्ण कर्मों को करना वैश्य का धर्म है तथा इन सब के सम्पूर्ण कार्यों को करना शूद्र की सेवा है।

॥ अ० १८, श्लोक ४२, ४३, ४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।  
 स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥  
 यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।  
 स्वकर्मणा तमश्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥  
 श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।  
 स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्रोति किल्बिषम् ॥  
 सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।  
 सर्वारभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

अपने अपने कर्तव्य-धर्म में लगा हुआ पुरुष जिस प्रकार ईश्वर प्राप्ति रूप सिद्धि को प्राप्त होता है, उसे सुन। ये चारों वर्ण अपने-अपने स्वभाविक कर्मों द्वारा उस परमेश्वर को पूजकर ही परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं। दूसरे के किये गये कर्म से अपना कर्तव्य श्रेष्ठ है इसलिये परमात्मा के लिये निश्चित किया हुआ कर्म ही कर, तभी तू मुक्त होगा। अतः दोष युक्त भी निश्चित किये गये निज कर्म छोड़ने नहीं चाहिये क्योंकि प्रारम्भ में सभी कर्म धुएं से अग्नि की भाँति ढके हैं।

॥ अ० १८ श्लोक ४५-४६-४७-४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।  
 नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्रोति निबोध मे ।  
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

सम्पूर्ण आसत्ति और इच्छा रहित निष्काम बुद्धि वाला ज्ञान-योग द्वारा संन्यासी परमगति को प्राप्त होता है। शुद्धान्तःकरण हुआ निष्काम कर्म-योगी जिस प्रकार ज्ञान-योग द्वारा परमब्रह्म को प्राप्त होता है उस तत्त्वज्ञान की परानिष्ठा—सत्य, प्रेम को भी संक्षेप से जान।

॥ अ० १८ श्लोक ४९-५० ॥

**भाव—** [“योग का जानना ही ज्ञानयोग है। उस ज्ञान को पाकर एक तो सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर, भगवतार्थ कर्म-सेवा भक्ति करता है और जो सम्पूर्ण कर्मों को भगवतार्पण करके शरणागति को प्राप्त होता है उसे संन्यास कहते हैं। सांख्य योगी और निष्काम-भक्त इन दोनों के लिये ही ज्ञान और कर्म की समान रूप से आवश्यकता है।”]

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।  
शब्दादीन्विषयांस्यवक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥  
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाङ्कायमानसः ।  
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥  
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।  
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥  
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।  
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

पवित्र बुद्धि तथा जीते हुये मन इन्द्रियों वाला अल्पाहारी दृढ़ वैराग्यवान् शुद्ध देश में ध्यान योग द्वारा आत्मा को धारण करके—अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और विषय अनुराग

द्वेष संग्रह ममता को त्याग करके, शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। ब्रह्म में स्थित हुआ प्रसन्नात्मा किसी के लिये न चिन्ता करता है और न किसी की इच्छा करता है, वह समान भाव से मेरी पराभक्ति पाता है।

॥ अ० १८ श्लोक ५१-५२-५३-५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्वास्मि तत्त्वतः ।  
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥  
सर्वकर्मण्यपि सदा कुर्वाणो मद्ययपाश्रयः ।  
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥  
चेतसा सर्वकर्मणि मयि संन्यस्य मत्परः ।  
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

मेरी शरण हुआ भक्त अनन्य भक्ति से मैं जैसा भी हूँ प्रभाव सहित जानकर मुझ में लीन होता है। मेरे आश्रित होकर सांख्य योगी सर्व कर्म करते हुये मेरी कृपा से अचल अविनाशी परम पद पाते हैं। अतः सर्व कर्मों को मेरे अर्पण करके मेरी शरण हुआ बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझ में चित्त लगा।

॥ अ० १८ श्लोक ५५-५६-५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।  
अथ चेत्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनडक्ष्यसि ॥  
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।  
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥  
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।  
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

मुझ में ध्यान लगाकर मेरी कृपा से सब संकटों से तर जायेगा। यदि नहीं सुनेगा तो परमार्थ से भ्रष्ट हो जायेगा। और जो

तू अहंकार वश मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो यह तेरा क्षत्रियपन का स्वभाव परवश युद्ध में लगा देगा। जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता, उसे कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा।

॥ अ० १८ श्लोक ५८-५९-६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशोऽर्जुन तिष्ठति ।  
श्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रात्कृदानि मायया ॥  
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।  
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥  
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यादगुह्यतरं मया ।  
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर ही सबके हृदय में आरुढ़ होकर सब भूत प्राणियों को कर्मानुसार भरमाता हुआ स्थित है। अतः सभी ओर से परमेश्वर की ही शरणागत हो, उनकी कृपा से शान्तिमय परम धाम पायेगा। इस प्रकार गोपनीय से भी अति गोपनीय यह ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है। सम्पूर्णता से अच्छी प्रकार विचार करके तू जैसे चाहता है वैसे ही कर।

॥ अ० १८ श्लोक ६१-६२-६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रुणु मे परमं वचः ।  
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥  
मन्यना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।  
मामेवैष्वासि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥  
सर्वधर्मान्यरित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।  
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

हे अर्जुन ! अति गोपनीय वचनों को तू फिर भी सुन क्योंकि तू मेरा प्रिय है। यह परम हितकारी वचन तेरे लिये कहूँगा। इसलिये

मेरे में मन लगा, भक्ति-पूजाकरके मुझे प्रणाम कर, यह सत्य प्रतिज्ञा है कि तू मुझे प्यारा है। सर्वधर्मों के कर्मों को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आ। मेरी शरणागत रूप धर्म में लग, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा।

॥ अ० १८ श्लोक ६४-६५-६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।  
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥  
य इमं परमं गुह्यं मद्वक्तेष्वभिधास्यति ।  
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्वत्यसंशयः ॥  
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।  
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

यह केवल तेरे लिये ही कहा है। जिसमें सेवा भक्ति न हो, सुनने की इच्छा न हो और निन्दनीय हो, उससे तो कहना भी नहीं। जो मेरे भक्तों में इस परम गोपनीय ज्ञान का प्रचार करेगा वह मुझे प्राप्त होगा और मेरा अत्यन्त प्यारा होगा। उससे बढ़कर मेरा प्यारा अन्य कार्य करने वालों में दूसरा कोई नहीं होगा।

॥ अ० १८ श्लोक ६७-६८-६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।  
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥  
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।  
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्युयात्पुण्यकर्मणाम् ॥  
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।  
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

जो पुरुष इस धर्म मय हम दोनों के संवाद को अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊंगा ऐसा मेरा मत है।

और जो श्रद्धावान् पुरुष दृष्टि रहित होकर श्रवण करेगा, वह भी पापों से मुक्त हुआ उत्तम कर्म करने वाले लोकों को प्राप्त होगा। हे पार्थ ! क्या तैने मेरा यह वचन एकाग्रचित् से सुना है ? क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ?

॥ अ० १८ श्लोक ७०-७१-७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टे मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।  
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्जुन बोला

हे अच्युत ! आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है, इसलिये मैं संशय रहित हुआ तैयार हूं और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

॥ अ० १८ श्लोक ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।  
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥  
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतदगुह्यमहं परम् ।  
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा

हे राजन् ! मैंने श्री वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस संवाद को सुना । यह अद्भुत रहस्य युक्त और रोमांचकारी है । श्री व्यास जी की कृपा से मैंने यह परम रहस्य युक्त गोपनीय योग साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण के मुखारविन्द से सुना है ।

॥ अ० १८ श्लोक ७४-७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।  
 केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥  
 तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं होः ।  
 विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥  
 यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पाथो धनुर्धरः ।  
 तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्यतिर्यम् ॥

राजन् ! भगवान् श्री कृष्ण और अर्जुन के रहस्य युक्त संवाद को पुनः पुनः स्मरण कर मैं बार-बार हर्षित होता हूँ । श्री हरि के उस अति अद्भुत रूप को भी पुनः पुनः स्मरण कर के मेरे चित्त में महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित होता हूँ । जहाँ योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है; ऐसा मेरा मत है ।

॥ अ० १८ श्लोक ७६-७७-७८ ॥

भगवान् श्री कृष्ण और अर्जुन का संवाद जो सर्व वेद-उपनिषदों का सार तथा अध्यात्म ज्ञान का विषय है यह अठारह अध्याय में श्री वेद व्यास जी की कृपा से संजय ने कथित किया है ।

ज्ञान केवल लिखने पढ़ने का विषय नहीं है, समझाने के लिये ही लिखा गया है । जिस प्रकार अर्जुन ने भगवान् श्री कृष्ण द्वारा उस ज्ञान को जाना, पाठक गण भी पढ़कर तथा समझकर उस ज्ञान को प्राप्त कर परम गति को प्राप्त करें । यह गीता महान् और योगशास्त्र का सार है । यह अध्यात्म ज्ञानी के लिये भी दैनिक पाठ करने योग्य ग्रन्थ है । जो इसे प्रतिदिन पढ़कर बुद्धि से काम लेंगे वे

अवश्य ही ज्ञान को प्राप्तकर तथा अध्यात्म को समझ कर परम शान्ति को प्राप्त करेंगे । क्योंकि यथार्थ ज्ञान में ही परमगति, मोक्ष तथा परम शान्ति है ।

इति—तत्सत् हरि

### \* शब्द निरूपण \*

कर्तव्य—	आत्महित के लिये करने योग्य कर्म करना कर्तव्य है ।
धर्म—	कामना रहित विचार कर चित्त की धारणा से किया गया कर्तव्य-धर्म है ।
दान—	फल की इच्छा से या मांगने पर देना दान है ।
सेवा—	बिना मांगे या बिना किसी के कहे द्रव्य देना या कर्तव्य करना सेवा है ।
कर्म—	आत्मा की इच्छा से पांच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और कामेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार द्वारा किये जाने वाले और न किये जाने वाले सभी कर्म भौतिक कर्म हैं और आत्मा की इच्छा द्वारा किया जाने वाला नाम का स्मरण ही अध्यात्म कर्म है ।
तप—	कर्तव्य कर्म के करने में परिश्रम करना तप है ।
श्रद्धा—	कर्तव्य धर्म में प्रबल इच्छा का होना ही श्रद्धा है ।
विश्वास—	जानकर मानना विश्वास है और बिना जाने मानना धोखा है ।
रूप—	मन इन्द्रियों सहित शरीर ही रूप है वह पांच प्रकार का होता है । अन्न से उत्पन्न होने वाला, मन से

उत्पन्न होने वाला और बुद्धि से उत्पन्न होने वाला । यह तीनों भौतिक रूप हैं और परमात्मा के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान और विज्ञान के ये दो अध्यात्म रूप हैं ।

**स्वरूप—** उपरोक्त पांच रूपों को धारण करने वाला आत्मा ही स्वरूप है ।

**नाम—** रूप की पहचान—जिससे रूप का ज्ञान हो वह नाम है ।

**ज्ञान—** सुनना, समझना, देखना, पहचानना ये चार तो भौतिक ज्ञान हैं और जानने वाले आत्मा को जानना अध्यात्म ज्ञान है, परन्तु इन सबका साधन परमात्मा है और परमात्मा के जानने के साधन को जानना ज्ञान है ।

**तीनगुण—** आदि-चेतन्यशक्ति द्वारा प्राण का आना 'सतोगुण', जाना 'तमोगुण' तथा रहना 'रजोगुण' हैं ।

**प्रकृति—** आदि चेतन्य शक्ति को ही मूल प्रकृति कहा है क्योंकि यह सारे विश्व की एवं विश्वपति परमात्मा की भी रचना करती है बिना चेतन्य शक्ति के न इस जगत् का कोई स्वामी है न उत्पन्न, पालन, संहार ही हो सकता है । ईश्वर और जीव इन दोनों की मूल चेतन प्रकृति है । चेतन्य शक्ति द्वारा उत्पन्न प्रकृति ही अपरा प्रकृति है, जिसे जड़ प्रकृति भी कहा जाता है; क्योंकि चेतन्य के बिना वह जड़ है । जैसे वृक्ष की जड़-और जड़ता अर्थात् चेतन्यहीनता को भी जड़

कहते हैं। अतः सारे विश्व के जन्म देने वाली चैतन्य प्रकृति ही जगत् माता है।

**रचना-** हं और स इन दो बीज मंत्रों के मिलने से एक शब्द होता है और उस शब्द का स्पर्श ही प्रकाश है तथा शब्द और प्रकाश से—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध क्रमशः उत्पन्न हुए और शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी यह पाँच तत्व हुए जिन से सारा विश्व रचा गया है। इन पाँच तत्व और सतोगुण से पाँच ज्ञानेन्द्रियां, तमोगुण से पाँच कर्मेन्द्रियां और रजोगुण से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा कार्मेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं। इन सबका कारण आत्मा की इच्छा ही है।

**स्वप्न** आँख खुलने पर रात्रि का देखा हुआ दृश्य स्वप्न है और आँख बन्द हो जानेपर दिन का देखा हुआ दृश्य भी स्वप्न है। अतः यह संसार ही स्वप्न है।

**बीजमन्त्र-** "हं" शिव अर्थात् तेज है और "स" शक्तिचेतन है इस चेतन प्रकाश रूप को बीजमन्त्र कहते हैं। यह सारे विश्व का बीज है और मन को नियन्त्रण करने वाला होने से मंत्र कहा जाता है। सभी जीव इस मंत्र को जपकर ही जीवन और मोक्ष पाते हैं तथा भूलकर कर्मजाल में फँस जाते हैं।

### \* योग के आठ साधन \*

**यम**—मन और इन्द्रियों को भोगों से मोड़ना।

**नियम**—ध्यान में मन लगाने का निश्चय करना।

आसन—बाधा रहित आसानी से बैठना ।  
 प्रत्याहार—इन्द्रियों को सब विषयों से हटा कर एकाग्र करना।  
 प्राणायाम—प्राण का समानता से आना जाना ।  
 धारणा—चित्त में भगवत् दर्शन व प्राप्ति की धारणा ।  
 ध्यान—श्रुति द्वारा शब्द का चिन्तन, मन की एकाग्रता ।  
 समाधि—ध्यान में प्राणों की समान गति का होना ।

---

### \* योग की चार भुजा \*

- शंख— ध्वनीकारक यंत्र तथा ब्रह्माण्ड की अनन्त ध्वनि जिसे नाद कहते हैं ।
- चक्र— सुदर्शन चक्र—सर्वोत्तम ध्यान करने योग्य प्रकाश चक्र ।
- गदा— शब्द या नाम रूपी गदा जिससे सब जीते मरते हैं ।
- पद्म— सहस्रदल—कमल—ब्रह्माण्ड में है और उससे अमृत टपकता है ।
- योग— चित्त की वृत्ति—(मन) का निरोध करना योग है । इसी को जानना—“ज्ञानयोग”, ध्यान करना “ध्यानयोग” साधन में लगे रहना “भक्तियोग”, ध्यान हेतु उत्तम कर्मों को करना “कर्मयोग”, साधन में सुगम होने से “सहजयोग” तथा मन को साधन में लगाकर बुद्धि द्वारा इन्द्रियों से काम लेना बुद्धियोग और साधन गप्त होने से “गुप्तयोग”, इसी प्रकार सब विद्याओं में श्रेष्ठ होने से “राजयोग” कहा जाता है, यह सब योग के ही विशेषण हैं ।

**अवस्था—** अवस्था चार होती हैं—जागृत, स्वप्न, सुसुप्ति और तुरिया से अवस्था जीव की माँ के पेट में भी होती हैं।

**प्राण—** मुख्य पाँच प्राण इस शरीर में रहते हैं और इनके पाँच ही स्थान हैं। प्राण का स्थान हृदय, अपान का स्वाधिष्ठान्, समान का मूलाधार, उदान का ब्रह्मरंध और व्यान का आज्ञा चक्र है ।